



खटरुती

श्री तारतम वाणी

श्री खटरुती

टीका व भावार्थ

श्री राजन स्वामी

प्रकाशक

श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ

नकुड़ रोड, सरसावा, सहारनपुर, उ.प्र.

www.spjin.org

सर्वाधिकार सुरक्षित (चौपाई छोड़कर)

© २०१४, श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ ट्रस्ट

पी.डी.एफ. संस्करण – २०१८

अनुक्रमणिका

अनुभूमिका 9

1 मारा वालाजी रे वल्लभ (वरखा रुत) 20

2 सरदनी रुत रे सोहामणी रलियामणी 43

3 रुतने आवी रे वालैया हेमनी 68

4 सीत रुत पिउजी तम विना 96

5 रुतडी आवी रे मारा वाला 115
(रुत वसंतनी)

6 वालाजी विना रुत ग्रीखम हो 135

7 सुणोने वालैया कहुं मारी वीतक वात 156
(अधिक मास)

8 वचन वालाजीना वालेरा रे लागे 175
(खटरुतीनो कलस)

- | | | |
|----|--|-----|
| 9 | पिउजी तमे सरदनी रुते रे सिधाव्या
(अथ बारेमास – सरद रुत) | 221 |
| 10 | वाला मारा हेमाले थी हेम रुत हाली | 236 |
| 11 | वाला रुतडी आवी रे सीतलडी लूखी | 244 |
| 12 | वाला मारा आवी रे रुतडी वसंत | 254 |
| 13 | वाला मारा आवी रे रुतडी ग्रीखम | 263 |
| 14 | पावसियो आव्यो रे वरखा रुत मांहे | 273 |
| 15 | वाला मारा खटरुतना बारे मास
(बारेमासनो कलस) | 285 |

प्रस्तावना

प्रियतम अक्षरातीत के लिये किये जाने वाले विरह की नींव पर ही अध्यात्म जगत का स्वर्णिम महल खड़ा होता है। विरह से ही हमारा आध्यात्मिक श्रृंगार होता है और इसके द्वारा ही आत्म-जाग्रति का स्वर्णिम पथ भी प्राप्त होता है।

बिना विरह के आँसू बहाये यदि कोई प्रियतम के साक्षात्कार का दावा करता है, तो यही समझना चाहिए कि वह सत्य को छिपाना चाहता है।

श्री इन्द्रावती जी की आत्मा ने अपने जीव को विरह की ज्वालाओं में भस्म कर दिया और अपने प्राणेश्वर को पा लिया। इसकी ही परिणीति यह षट्ऋतु की वाणी है, जो हमें विरह के उसी पुनीत मार्ग पर चलने का आह्वान कर रही है।

"हक इलम से होत है, अर्स बका दीदार" का कथन अक्षरशः सत्य है। इस ब्रह्मवाणी की अलौकिक ज्योति सुन्दरसाथ के हृदय में माया का अन्धकार कदापि नहीं रहने देगी। इस तारतम वाणी की थोड़ी सी भी अमृतमयी बूँदों का रसास्वाद न जीव के लिये परब्रह्म के साक्षात्कार एवं अखण्ड मुक्ति का द्वार खोल देता है। अतः वैश्विक स्तर पर इस ब्रह्मवाणी का प्रसार करना हमारा कर्त्तव्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये आवश्यक है कि अनेक भारतीय भाषाओं में अवतरित इस ब्रह्मवाणी का टीका सरल भाषा में प्रस्तुत हो। यद्यपि वर्तमान में अनेक सम्माननीय मनीषियों की टीकायें प्रचलित हैं, किन्तु ऐसा अनुभव किया जा रहा था कि एक ऐसी भी टीका हो, जो विश्लेषणात्मक हो, सन्दर्भ, भावार्थ, स्पष्टीकरण, एवं टिप्पणियों से युक्त हो।

मुझ जैसे अल्पज्ञ एवं अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति के लिये यह कदापि सम्भव नहीं था , किन्तु मेरे मन में अचानक ही यह विचार आया कि यदि संत कबीर जी और ज्ञानेश्वर जी अपने योगबल से भैंसे से वेद मन्त्रों का उच्चारण करवा सकते हैं, तो मेरे प्राणवल्लभ अक्षरातीत मेरे से वाणी की टीका की सेवा क्यों नहीं करवा सकते ? इसी आशा के साथ मैंने अक्षरातीत श्री जी के चरणों में अन्तरात्मा से प्रार्थना की।

धाम धनी श्री राज जी एवं सद्गुरु महाराज श्री राम रतन दास जी की मेहर की छाँव तले मैंने यह कार्य प्रारम्भ किया। सरकार श्री जगदीश चन्द्र जी की प्रेरणा ने मुझे इस कार्य में दृढ़तापूर्वक जुटे रहने के लिये प्रेरित किया।

सभी सम्माननीय पूर्व टीकाकारों के प्रति श्रद्धा

सुमन समर्पित करते हुए मैं यह आशा करता हूँ कि यह टीका आपको रुचिकर लगेगी। सभी सुन्दरसाथ से निवेदन है कि इसमें होने वाली त्रुटियों को सुधार कर मुझे भी सूचित करने की कृपा करें, जिससे मैं भी आपके अनमोल वचनों से लाभ उठा सकूँ एवं अपने को धन्य-धन्य कर सकूँ।

आपकी चरण-रज

राजन स्वामी

श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ

सरसावा

खटरुती

श्री राज श्यामा जी

निजनाम श्री कृष्ण जी, अनादि अछरातीत।

सो तो अब जाहेर भए, सब विध वतन सहीत।।

अपने प्राणेश्वर को प्रत्यक्ष करने के लिये हृदय से निकलने वाली आँहों का घनीभूत रूप विरह है। यह प्रेम से पूर्व की अवस्था है, किन्तु प्रेम की ही तरह शब्दातीत है।

विरह आत्मा का धर्म नहीं है, बल्कि यह समर्पण की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए जीव के शुद्ध हृदय से उठने वाली पुकार है, जो अपने सर्वस्व को पाकर उसके प्रेम भरे सागर में गोता लगाने के लिये होती है। जब शुद्ध ज्ञान के द्वारा अपने प्रेमास्पद (जिससे प्रेम किया जाता है, आशिक/माशूक) का निर्धारण हो जाता है और विश्वास

(ईमान) रूपी वृक्ष की श्रद्धा रूपी डालियों में लगने वाले समर्पण का फल परिपक्व हो जाता है, तो उससे विरह की वह मधुर रसधारा प्रवाहित होने लगती है, जिसका रसास्वादन कर लेने वाला प्रेम के पवित्र आँगन में विहार करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

विरह के फूलों से उठने वाली सुगन्ध इतनी मादक होती है कि साधारण प्राणी तो क्या, बड़े-बड़े योगिराज भी इसकी थोड़ी सी सुगन्धि से बेसुध हो जाते हैं। यह इस संसार की सबसे अनमोल वस्तुओं (प्रेम, ज्ञान, एकत्व, शान्ति, अखण्ड सौन्दर्य, आनन्द आदि) में से एक है और अध्यात्म का स्वर्णिम महल भी इसी की नींव पर खड़ा होता है।

हृद के जीवों के लिये विरह का रस प्राप्त कर पाना बहुत कठिन ही नहीं, प्रायः असम्भव ही होता है। यह तो

बेहद मण्डल की ईश्वरी और परमधाम की आत्माओं की सम्पदा है। यद्यपि परमधाम में विरह की लीला नहीं है, किन्तु जिस जीव पर ब्रह्मात्माओं की सुरता विराजमान होती है, मात्र उसे ही विरह का वास्तविक रस चखने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जन्म-मरण की अग्नि में जलने वाले सांसारिक जीव विरह के नाम से ही भागते हैं। बेहद की ईश्वरी सृष्टि भी ब्रह्मसृष्टियों की तरह विरह रस का रसास्वादन नहीं कर पाती है, यद्यपि वह इस मार्ग पर अपने कदम अवश्य रखती है।

श्रीमुखवाणी की रास, प्रकाश गुजराती एवं हिन्दुस्तानी, खटक्रतु, कलश हिन्दुस्तानी, सनंध, तथा सिन्धी में सात प्रकार के विरह की स्थिति का वर्णन किया गया है। यद्यपि विरह के भावों का वर्णन कर पाना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं होता, किन्तु धाम धनी

ने सुन्दरसाथ की आत्मा को जाग्रत करने के लिये विरह के भावों को श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान होकर वर्णित किया है, जिससे सभी ब्रह्मात्माओं के लिये प्रेम के जगमगाते महल का मनोहर द्वार खुल जाए।

रास ग्रन्थ में दो प्रकार का विरह है— पहला विरह व्रज से रास में जाने के समय का है, जिसमें गोपियों के रूप में आयी ब्रह्मात्माओं को पूरे ५२ दिन का वियोग झेलना पड़ता है और जब उन्हें योगमाया में बजने वाली बाँसुरी की आवाज सुनायी देती है, तो उनकी विरहाग्नि इतनी प्रचण्ड हो जाती है कि वे (तामसी, राजसी, तथा स्वाँतसी) तत्क्षण शरीर छोड़ देती हैं तथा योगमाया में पहुँच जाती हैं। इस विरह में वे पूर्ण रूप से नींद में ही होती हैं। उन्हें धाम धनी से अपने मूल सम्बन्ध का पता भी नहीं होता है।

रास ग्रन्थ में दूसरे प्रकार का विरह अर्द्धनिद्रा और अर्द्ध-जाग्रति का है, जिसमें सखियाँ अपने धाम धनी को पहचान कर तरह-तरह की क्रीड़ायें (रामतें) कर रही होती हैं, किन्तु अचानक ही उन्हें विरह का असह्य कष्ट झेलना पड़ता है, जो प्रियतम के दीदार के पश्चात् ही समाप्त होता है।

प्रकाश गुजराती तथा प्रकाश हिन्दुस्तानी का विरह एक समान है, जो हृदय में जाग्रत होने के पश्चात् श्री इन्द्रावती जी की आत्मा के द्वारा किया जाता है। इसमें सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के तन में विराजमान अपने धाम धनी को न पहचान पाने का घोर प्रायश्चित्त है।

षट्कृतु में दो प्रकार का विरह है। पहला विरह उस समय का है, जब श्री मिहिरराज नवतनपुरी में २ वर्ष तथा कलाजी के पास २ वर्ष तक रहे थे। न तो सद्गुरु

धनी श्री देवचन्द्र जी उन्हें बुला सके और न ही श्री मिहिरराज उनके पास जा सके। इस कठिन घड़ी में श्री मिहिरराज का हृदय विरह की अग्नि में तड़पता रहा , जिसका चित्रण प्रकरण १ से ८ तक में किया गया है।

दूसरे प्रकार के विरह में उस अवस्था का वर्णन है, जब सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी का अन्तर्धान हो चुका है और वह श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान हो चुके हैं, किन्तु उन्हें कोई भी पूर्ण रूप से पहचान नहीं पा रहा है। कुछ सुन्दरसाथ की आस्था गादी पर बैठे हुए बिहारी जी के ऊपर भी है। ऐसी अवस्था में ब्रज लीला के रूपक के माध्यम से दृष्टान्त रूप में विरह की अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। यह विरह ज्ञान के उगते सूरज के उजाले में यही दर्शाता है कि सुन्दरसाथ को तारतम ज्ञान के उजाले में श्री मिहिरराज जी के

अन्दर अपने प्रियतम का स्वरूप खोजना चाहिए, न कि बालबाई की कृपा से गादी पर बैठाये गये बिहारी जी महाराज के अन्दर।

कलश हिन्दुस्तानी में विरह तामस का वर्णन है, जो हृषे के अन्दर का है। इस विरह में इस बात की अत्यधिक उग्रता है कि हे धनी! यदि आप मेरे सम्मुख नहीं आते हैं, तो मैं अपना तन छोड़ दूँगी। इसलिये इस विरह को तामस का विरह कहा गया है। **सनन्ध** ग्रन्थ में भी ठीक यही स्थिति है।

परमधाम की चारों किताबों – खिल्वत, परिक्रमा, सागर, तथा श्रृंगार का अवतरण होने के पश्चात् **सिन्धी** का जो विरह प्रकट हुआ है, उसमें यह तथ्य दर्शाया गया है कि ज्ञान की पूर्णता के पश्चात् प्रियतम अक्षरातीत को अपने धाम हृदय में बसाने के लिये क्या करना चाहिए?

सूफी मत में इश्के मजाजी (सांसारिक प्रेम) से इश्के हकीकत (परब्रह्म के प्रति प्रेम) की ओर स्वयं को लगाया जाता है। इसी को आधार लेकर प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जयसी ने पद्मावत नामक प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में प्रेमी (आशिक) राजा रत्नसेन का अपनी प्रेमिका (माशूका) पद्मिनी के लिये विरह एवं रत्नसेन की पूर्व पत्नी नागमति का रत्नसेन के विरह में तड़पने का मनोहर वर्णन है।

पद्मावत ग्रन्थ में यह बात दर्शायी गयी है कि वर्ष के १२ महीनों (छः ऋतुओं) में चित्तौड़ के राजा रत्नसेन किस प्रकार सिंहल द्वीप की पद्मिनी के लिये तड़पते हैं। इस कथानक में रत्नसेन आत्मा (रूह) हैं और पद्मिनी प्रियतम परब्रह्म (अल्लाह तआला)।

आधुनिक काव्य जगत में इसी प्रकार की अभिव्यक्ति

रहस्यवाद और छायावाद के नाम से जानी जाती है। प्रकृति अपना श्रृंगार सजकर जब प्रियतम परब्रह्म की सार्वभौम सत्ता का प्रदर्शन करती है, तो यह कबीर जी का रहस्यवाद है।

इसी प्रकार जब प्रकृति के दृश्यों से स्वयं में विरह की भावना लेकर प्रियतम परब्रह्म के प्रति भाव प्रकट किया जाता है, तो उसे सुमित्रानन्द पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", जयशंकर प्रसाद, तथा महादेवी वर्मा का छायावाद कहते हैं। इस सम्बन्ध में महादेवी वर्मा की ये पंक्तियां देखने योग्य हैं—

मैं नीर भरी दुःख की बदली।

विस्तृत नभ का कोई कोना, कोई नहीं अपना होना।

उमड़ी कल थी, मिट आज चली।

मैं नीर भरी दुःख की बदली॥

षट्ऋतु की वाणी में विरह की अति गहन स्थिति का चित्रण हुआ है। श्री मिहिरराज अरब से लौटकर आते हैं, किन्तु बालबाई जी के दबाव में सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी उनका प्रणाम स्वीकार नहीं करते। विवश होकर श्री मिहिरराज जी यह निश्चय करके वापस लौट जाते हैं कि जब तक स्वयं सद्गुरु महाराज मुझे नहीं बुलायेंगे, तब तक मैं नहीं आऊँगा।

अब श्री मिहिरराज जी के हृदय में विरह का झरना फूट पड़ता है, जो षट्ऋतु की वाणी में प्रवाहित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। वर्ष में २-२ माह की छः ऋतुएँ आती हैं। उन ऋतुओं में प्रकृति के मनोरम दृश्यों को देखकर श्री मिहिरराज जी की विरहाग्नि बढ़ती ही जाती है। षट् ऋतुओं के अतिरिक्त बारहमासे के रूप में भी श्री मिहिरराज जी का विरह प्रस्फुटित हुआ है।

अब प्रस्तुत है श्री मिहिरराज जी के हृदय से निकलने वाले विरह-सागर की कुछ मोहक लहरें, जो हमारी आत्म-जाग्रति में अमृत तुल्य संजीवनी का कार्य करती हैं।

वरखा रूत – राग मलार

वर्षा ऋतु (आषाढ़, सावन)

वर्षा ऋतु का समय आषाढ़, सावन (जुलाई, अगस्त) में होता है। संगीत के क्षेत्र में मल्हार राग गाने से वर्षा होने की बात कही जाती है। इस राग को मियाँ मल्हार भी कहते हैं क्योंकि मियाँ तानसेन नामक प्रसिद्ध संगीतकार ने इस राग की खोज की थी। इसी प्रकार सूरदास जी के द्वारा खोजे गये मल्हार राग को सूर मल्हार कहते हैं।

वर्षा से सम्बन्धित होने के कारण वर्षा ऋतु को भी मल्हार कहा जाता है। यह बात इस प्रकरण की चौपाई २, ५ और १२ से सिद्ध है।

मारा वालाजी रे वल्लभ, कहूं एक विनती रे।

मारा करम तणी रे कथाय, सुणो मारी आप वीती रे॥१॥

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे प्राणेश्वर! मैं आपसे यह प्रार्थना करती हूँ कि मेरे साथ जो कुछ भी घटित हुआ है और मैंने आपके प्रति जो कुछ भी अपराध भरा कार्य किया है, उसे मैं आपसे कहना चाहती हूँ। आप अवश्य ही उसे सुनने का कष्ट करें।

भावार्थ- इस चौपाई में यह संशय होता है कि जब पूर्व में कहा जा चुका है कि विरह जीव को होता है, आत्मा को नहीं, तो सम्पूर्ण षट्ऋतु में श्री इन्द्रावती जी के द्वारा ही विरह-व्यथा क्यों प्रकट की गयी है, मिहिरराज के द्वारा क्यों नहीं?

इसका समाधान यह है कि आत्मा के सम्बन्ध से ही जीव में विरह भाव प्रकट होता है। तारतम ज्ञान के प्रकाश में जीव भी अंगना भाव धारण कर लेता है और विरह की अवस्था में वह शरीर तथा संसार से परे होकर

आत्म-भाव में ही डूबा रहता है। आत्मा जीव के ऊपर विराजमान होकर द्रष्टा रूप में खेल को देख रही है, इसलिये जीव तथा आत्मा की ऐक्य भावना के कारण आत्मभाव से ही विरह भावना को दर्शाया जाता है। सम्पूर्ण षट्क्रतु में यही स्थिति है।

यदि यह कहा जाये कि "देह भरोसा ना करे, पिया मिलन की आस" (क.हि. ११/११) तथा "ओ खोजे अपने आप को, और खोजे अपने घर" (क.हि. ११/७) के कथनों से आत्मा में भी विरह की अवस्था होती है, तो इसका उत्तर यह है कि यह स्थिति भी जीव और आत्मा की ऐक्य अवस्था में ही होती है। विरह, प्रेम, तथा खोज की जो मानसिकता श्री देवचन्द्र जी एवं मिहिरराज जी में होती है, वही बिहारी जी या औरंगजेब के अन्दर क्यों नहीं होती? स्पष्ट है कि तारतम ज्ञान के

प्रकाश में जब तक जीव निर्मल, आस्थावान्, एवं कोमल भावों वाला नहीं होता, तब तक उसके अन्दर विरह का भाव नहीं आ सकता।

स्वलीला अद्वैत परमधाम में एक अक्षरातीत के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है। उन्हीं के हृदय का व्यक्त स्वरूप श्यामा जी, सखियों, खूब खुशालियों, तथा पच्चीस पक्षों के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। ऐसी स्थिति में सखियों के मूल तनों (परात्म) को श्री राज जी से भिन्न कदापि नहीं कहा जा सकता। "ब्रह्मसृष्ट कही वेद ने, ब्रह्म जैसी तदोगत" (श्रृंगार ७/३४) तथा "तुम रूहें मेरे तन हो" से यही भाव झलकता है। क्या अक्षरातीत स्वयं से अलग हो सकते हैं? क्या सूर्य से उसकी तेजस्विता तथा शक्कर में से उसकी मिठास को अलग किया जा सकता है? यदि नहीं, तो यह किस प्रकार

कहा जा सकता है कि आत्मा से कभी धनी का वियोग होता है? वियोग की अवस्था में ही तड़पा जाता है।

किन्तु यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब आत्मा विरह ही नहीं करती, तो तारतम वाणी में सर्वत्र आत्मा को ही विरह में डूबा हुआ क्यों कहा गया है? "विरहा नहीं ब्रह्माण्ड में, बिना सोहागिन नार" (क.हि. ९/२३) का कथन क्या सिद्ध करता है?

वस्तुतः आत्मा के धाम-हृदय में धाम धनी अव्यक्त रूप से सर्वदा ही विराजमान रहते हैं, किन्तु उसे इसका आभास नहीं होता, क्योंकि उसकी दृष्टि द्वैत (शरीर, संसार) में आ चुकी होती है। उससे परे होने के लिये अंगना भाव के साथ जीव को विरह में तड़पना ही पड़ेगा।

यही कारण है कि ब्रज, रास, तथा जागनी में ब्रह्मात्माओं को विरह का अनुभव करना पड़ा है।

परमधाम में न तो कभी विरह की लीला हुई है और न कभी होगी। केवल ब्रह्म की अद्वैत भूमिका में विरह की जो लीला हुई, वह धाम धनी की प्रेरणा से हुई। केवल ब्रह्म की भूमिका में वियोग रस की लीला होती है। यह भी ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि रास में सखियों के साथ उनके जीव भी थे। रास में सखियाँ स्वयं को जीव भाव से पूर्णतया अलग नहीं कर पायी थीं।

रास के इन कथनों से यह बात स्पष्ट होती है कि श्री राजश्यामा जी तथा परात्म की तरह ही आत्मा का भी विशुद्ध गुण प्रेम ही है, विरह नहीं। जीव के द्वारा आत्म-भाव में विरह में तड़पने के कारण आत्मा को भी विरह के भावों में दर्शाया जाता है, क्योंकि आत्मा के ही सम्बन्ध से उसे विरह का अमृत रस प्राप्त होता है।

वाला आवयो ते मास असाढ, के रुत मलारनी रे।

जाणूं करी रे वालासूं विलास, लेसूं लाण आधारनी रे।।२।।

मेरे धाम धनी! इस समय आषाढ का महीना चल रहा है, जिसमें वर्षा ऋतु का अति मनोहर समय है। मेरे मन में ऐसी इच्छा हो रही है कि मैं अपने जीवन के आधार प्रियतम अक्षरातीत के साथ आनन्द में मग्न होकर रहूँ।

भावार्थ- विलास का तात्पर्य है - सुशोभित होना। प्रियतमा (आत्मा) की वास्तविक शोभा अपने प्राणवल्लभ की सान्निध्यता में ही है। दूर रहकर वह स्वयं को एकाकीपन में असहाय पाती है। उसे लगता है कि वह आन्तरिक रूप से सुखी व सन्तुष्ट नहीं है। श्री मिहिरराज जी एक ही नगर (नवतनपुरी) में रहते हुए भी ऐसा अनुभव कर रहे हैं कि जैसे वे अत्यधिक खिन्न से हों। उन्हें आनन्द तभी मिल सकता है, जब वे सद्गुरु धनी श्री

देवचन्द्र जी के चरणों में आकर उनके साथ प्रेममयी दर्शन, वार्तालाप, चर्चा-श्रवण आदि का सुख ले सकें।

मारी जोगवाई हुती जेह, सुफल थासे आवारनी रे।

जाण्युं आवी माया मांहे, भाजसूं हाम संसारनी रे।।३।।

पूर्वकाल (पहले) से ही मैं यह सोचा करती थी कि अब इस जागनी ब्रह्माण्ड में मेरे शरीर की सार्थकता सिद्ध हो जायेगी, क्योंकि मेरे प्राणेश्वर भी मेरे साथ माया में आये हुए हैं, जिन्हें मैं जी भरकर रिझाने की अपनी चाहना पूर्ण कर लूँगी।

भावार्थ- प्रेम और सेवा के द्वारा अक्षरातीत श्री राज जी को रिझाया जाता है। प्रेम का तात्पर्य है अपने धाम हृदय में युगल स्वरूप को बसाना, तथा सेवा का तात्पर्य है तन, मन, एवं धन को जागनी कार्य में झोंक देना।

शारीरिक बल से शारीरिक सेवा होती है। मानसिक या बौद्धिक बल से ज्ञानार्जन किया जाता है और उसे फैलाया जाता है। धर्मपूर्वक उपार्जित धन का कुछ अंश जागनी कार्य में अवश्य लगाना चाहिए। यही तन, मन, और धन की सेवा है। इसी प्रकार प्रेममयी चितवनि ही आत्मा के द्वारा की जाने वाली सेवा है।

वरखा रुते करमे काढी वदेस, अवगुण हुता अपार रे।

हवे एणे समे धणी विना, लेसे कोण सार रे।।४।।

मेरे धाम धनी! मेरे अन्दर अवगुणों की कोई सीमा नहीं है। इसलिये इस मनोहर वर्षा ऋतु में भी अपने बुरे कर्मों के कारण अपना देश (नवतनपुरी) छोड़कर विदेश (धरोल) में रहना पड़ रहा है। अब आप ही बताइये कि आपके अतिरिक्त इस संसार में मेरा अपना कौन है, जो

विरह की अग्नि में तड़पती हुई मुझ आत्मा की सुधि ले सके?

भावार्थ— समर्पण की चादर में बहुत छोटा सा भी छेद हो जाना प्रेम को सहन नहीं है। समर्पण की पूर्ण अवस्था में तो अहम् का विसर्जन हो जाता है। उस समय तो मन में यह बात आ ही नहीं सकती कि जब तक आप मुझे नहीं बुलायेंगे, तब तक मैं आपके पास नहीं आऊँगा।

इस चौपाई के दूसरे चरण में इसी अहम् की सूक्ष्म भावना (अस्मिता) को अपार अवगुणों की संज्ञा दी गयी है। भले ही बाल बाई के दबाव में सद्गुरु महाराज प्रणाम स्वीकार न करते, किन्तु श्री मिहिरराज को वहीं पर अनशन करके बैठ जाना चाहिए था, तथा अपनी सत्यता, निःस्वार्थ सेवा, एवं समर्पण भावना का प्रमाण उपस्थित कर देना चाहिए था। भले ही सांसारिक

सम्बन्धों में अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये इस प्रकार का निर्णय उचित कहा जा सकता है, किन्तु प्रियतम अक्षरातीत के समक्ष स्वाभिमान जैसे शब्द का प्रश्न ही कहाँ होता है?

श्री मिहिरराज को अपनी इस भूल का अहसास था, इसलिये वे चार वर्षों तक विरह में तड़पते तो रहे, किन्तु स्वयं नहीं जा सके। इस प्रकार की भूल का मूल कारण यह था कि उन्हें अभी तक श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत की पूर्ण पहचान नहीं हो पायी थी।

यद्यपि नवतनपुरी तथा धरोल में अधिक दूरी नहीं है और ये दोनों मात्र नगर हैं, देश नहीं, किन्तु इन्हें विदेश कहने का आशय दूर चले जाने से है।

वाला वरसे ते मेघमलार, वीजलडीना साटका रे।

मूने वालाजी विना आ रुत, लागे अंग झाटका रे॥५॥

मेरे प्रियतम! इस रमणीय वर्षा ऋतु में बादल बरस रहे हैं। विद्युत की मनोहर चमक दिखायी दे रही है, किन्तु जब मैं आपके दर्शन ही नहीं कर पा रही हूँ, तो यह मनोहारिणी वर्षा ऋतु भी मेरे हृदय में विरह की पीड़ा को और बढ़ा रही है।

भावार्थ— वर्षा ऋतु में प्रकृति अपने मनमोहक श्रृंगार के साथ दृष्टिगोचर होती है, किन्तु यह स्थिति विरहिनी के लिये और पीड़ादायक होती है, क्योंकि उसे ऐसा लगता है जैसे प्रकृति से उसकी प्रतिद्वन्द्विता है। वह अपने आराध्य का दीदार भी नहीं कर पा रही है, जबकि प्रकृति ऐसा करने में सक्षम दिखायी देती है।

मोरलिया करे रे किंगोर, सुणीने गरजना रे।

मारो जीव आकुल व्याकुल थाय, सुणी स्वर कोयलना रे॥६॥

बादलों की गर्जना को सुनकर मोर कलोल कर रहे हैं। कोयल के मुख से निकलने वाली अति मधुर ध्वनि को सुनकर मेरा जीव आपसे मिलने के लिये बहुत ही व्याकुल हो रहा है।

भावार्थ— वर्षा ऋतु में जब आकाश में काले -काले बादल छा जाते हैं और गरजते हैं, तो मोर (नर) बहुत ही प्रसन्न हो जाता है और मोरनी को आनन्दित करने के लिये अत्यधिक उमंग में नाचने लगता है। इस समय दोनों (नर व मादा) के मुख से निकलने वाली मधुर ध्वनि (कलोल) बहुत ही आकर्षक होती है। इसके अतिरिक्त सभी दिशाओं में प्रणय -प्रेम की माधुर्यता का संचार करने वाली कोयल की कूक भी श्री इन्द्रावती जी

की विरहाग्नि को बढ़ाने में सहायक हो रही है। यद्यपि भावनाओं की संवदेनशीलता हृदय (दिल) में ही होती है, तथापि उसे जीव या आत्मा के रूप में व्यक्त किया जाता है।

मूने केम करी रैणी जाय, वपैया पिउ पिउ लवे रे।

सुंदरी कहे आवार, तेडो चरणे हवे रे।।७।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे मेरे प्राणेश्वर! पपीहा भी पिउ-पिउ की रट लगा रहा है। मुझसे इस समय विरह की अग्नि सही नहीं जा रही है। भला यह रात्रि कैसे व्यतीत करूँ? अब तो मेरे ऊपर अपनी प्रेम भरी कृपा कीजिए और शीघ्र ही अपने चरणों में बुला लीजिए।

भावार्थ- प्रेम की माधुर्यता पुरुष तन के पर्दे को समाप्त कर देती है। यही कारण है कि श्री मिहिरराज जी शरीर

भाव से ऊपर होकर अपनी आत्मिक दृष्टि से सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान अपने आराध्य को पुकार रहे हैं। रात्रि के घने अन्धकार में जब वे पपीहे की विरह-भरी करुण पुकार सुनते हैं, तो वे माधुर्यता के रस में डूब जाते हैं और विरह की असह्य वेदना में यही भाव व्यक्त करते हैं कि इतनी लम्बी रात कैसे बीतेगी?

निस दिवस दोहेली थाय, पिउजी विना अंगना रे।

मारुं कालजडुं रे कपाय, मारा वालाजी विना रे।।८।।

मेरे जीवन के आधार! मेरे सर्वस्व! आपके बिना मेरा एक-एक दिन इस प्रकार बीत रहा है कि जैसे मेरा हृदय ही कट कर टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा।

भावार्थ- यद्यपि सूक्ष्म हृदय (कारण शरीर,

अन्तःकरण) को आँखों से देखा नहीं जा सकता , इसलिये उसके टुकड़े-टुकड़े होने की बात आलंकारिक है। विरह की गहन अवस्था में जब सूक्ष्म हृदय उसे सहन नहीं कर पाता है, तो स्थूल हृदय (जिसमें रक्त संचार होता है) अपना कार्य बन्द कर देता है। इसे ही हृदय (कलेजे) का कट जाना या फट जाना कहते हैं।

अचके वा वाए, उछले वन वेलडी रे।

हूँ तो वालाजी विना रे वदेस, झुरुं छूँ एकली रे॥९॥

झोंको के रूप में मन्द गति से हवा बह रही है, जिससे वन की लतायें झूम रही हैं। धोराजी मेरे लिये परदेश के समान है, जिसमें मैं अपने प्राणवल्लभ के वियोग में अकेले रह रही हूँ तथा विरह-व्यथा में तड़प रही हूँ।

भावार्थ- शीतल-मन्द-सुगन्धित हवा के झोंकों से जब

वृक्षों की डालियाँ झूमने लगती हैं, तो ऐसा लगता है जैसे सारी प्रकृति ही प्रेमोन्माद से भर गयी है। ऐसी अवस्था में विरहिणी (आत्मा) की प्रेम-प्यास अपने चरम पर पहुँच जाती है। सबको मुग्ध करने वाला मनभावन सावन विरहिणी को शान्ति नहीं दे पाता।

मारी वेहेली ते लेजो सार, वालानी हूं विरहणी रे।

मूने दिवस दोहेला जाए, वसेके रैणी रे॥१०॥

मेरे प्राणेश्वर! मैं आपके विरह में तड़पने वाली आपकी अर्धांगिनी हूँ। इसलिये शीघ्रातिशीघ्र मेरी सुधि लीजिए। आपके विरह में दिन तो किसी प्रकार तड़पते हुए बीत भी जाता है, किन्तु रात्रि व्यतीत कर पाना विशेषकर बहुत ही कठिन होता है।

भावार्थ- रात्रि के सूनेपन में जब सारा संसार सो रहा

होता है, उस समय विरहिणी का हृदय पूर्ण रूप से अपने प्रियतम पर केन्द्रित हो जाता है। परिणामस्वरूप, उसका विरह हवा के झोंको से प्रज्वलित होकर उठने वाली अग्नि की भाँति और अधिक बढ़ जाता है। इस स्थिति में रात्रि के समय एक-एक पल व्यतीत कर पाना बहुत ही कठिन होता है।

इन्द्रावती कहे अवगुण, विसारो अमतणा रे।

में जे कीधां रे अपार, वालाजीसूं अति घणा रे॥११॥

मेरे प्रियतम! आपकी अंगना, मैं इन्द्रावती, आपसे यह आग्रह करती हूँ कि भले ही मैंने आपके प्रति असंख्य अपराध किये हैं, किन्तु अब तो उन्हें भुला दीजिए।

भावार्थ- प्रेम का रथ समर्पण के पहियों पर ही चलता है। प्रेम का अमृतफल चखने के लिये यह अत्यन्त

आवश्यक है कि प्रेमी (आशिक) अपने प्रेमास्पद (माशूक) के सामने भूल न होते हुए भी अपनी भूल को स्वीकार करे और उसे अपने हृदय का प्रेम लुटाने के लिये विवश करे। इस चौपाई में यही भाव दर्शाया गया है।

हवे वादल मलियारे मलार, सोभा लिए वनराय रे।

रुचियो ते वरसे मेह, तेडी भीडो अंगनाय रे॥१२॥

इस मनमोहक वर्षा ऋतु में चारों ओर बादलों की घनघोर घटायें घिर आयी हैं। वनों की भी अलौकिक शोभा दृष्टिगोचर हो रही है। आकाश में स्थित बादलों से बरसने वाला जल अति आकर्षक दृश्य उपस्थित कर रहा है। ऐसी अवस्था में, हे मेरे प्राणवल्लभ! मुझे शीघ्रातिशीघ्र बुलाकर अपने गले से लगा लीजिए।

भावार्थ— अनन्त आकाश में स्थित बादलों से गिरता

हुआ मधुर जल जो वनों को जीवन देने वाला है, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे अनन्त परब्रह्म के हृदय से बहती हुई प्रेम की धारा अपने प्रेमियों को जीवन देने के लिये ही प्रवाहित हो रही है। ऐसा मनोरम दृश्य प्रेम के अतिरेक (आधिक्य) की वृद्धि करने वाला होता है। यही कारण है कि श्री इन्द्रावती जी की आत्मा अपने प्राणेश्वर के गले लग जाना चाहती हैं।

धरा ए कीधो सिणगार, डूंगरडा नीलया रे।

एणी रुते रे आधार, करो सीतल काया रे॥१३॥

हरियाली से सुसज्जित धरती ऐसी प्रतीत हो रही है, जैसे उसने अपने प्रियतम को रिझाने के लिये अपना श्रृंगार किया हुआ है। ऊँचे-ऊँचे पर्वत भी हरे-भरे दिखायी दे रहे हैं। आप मेरे जीवन के आधार हैं। इस

समय मेरा सम्पूर्ण शरीर विरह की अग्नि में दग्ध हो रहा है (जल रहा है)। इसलिये, मुझे बुलाकर, अपने प्रेम की शीतल धारा से इसे शीतल कर दीजिए।

भावार्थ— वर्षा के शीतल जल से प्रकृति (दृश्यावली) का शीतल होना विरहिणी को चिढ़ाने जैसा प्रतीत होता है, क्योंकि वह देखती है कि मैं तो विरह की भयंकर लपटों में जल रही हूँ, जबकि सारी प्रकृति अपने सौन्दर्य और शीतलता से सौत की तरह मेरा उपहास कर रही है।

मारी वेहेली ते लेजो सार, नहीं तो जीव चालसे रे।

पछे आवीने लेजो सार, काया पडी हसे रे॥१४॥

मेरे सर्वस्व! मेरे प्राण जीवन! यदि आप शीघ्र आकर मेरी सुधि नहीं लेते हैं, तो मेरा जीव इस शरीर को छोड़ देगा। यदि बाद में आकर आप मुझसे मिलना भी चाहेंगे,

तो उससे क्या लाभ? उस समय तक तो मेरा शरीर ही निर्जीव हो गया होगा।

भावार्थ— यदि विरह की गर्म-गर्म आहों से भी प्रियतम का हृदय नहीं पिघलता है, तो विरहिणी आत्मा के पास इस तरह की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रह जाता।

मारा अवगुण घणां रे अनंत, पण छेह केम दीजिए रे।

एणे वचने इंद्रावती अंग, वालो तेडी लीजिए रे॥१५॥

यह मैं मानती हूँ कि मेरे अन्दर बहुत अधिक तथा सम्भवतः अनन्त अवगुण हैं, किन्तु आप तो मेरे प्राणेश्वर ठहरे। आपने मुझे इस तरह से वियोग का कष्ट क्यों दे रखा है? मेरी अन्तरात्मा से उठने वाली इस पुकार को सुनकर द्रवित हो जाइए और शीघ्र-अति-शीघ्र अपने

पास बुला लीजिए।

भावार्थ— भूलों के कारण परित्याग करना तो सांसारिक सम्बन्धों में होता है, परमधाम के सम्बन्ध में नहीं। क्या कूड़े के ढेर पर पड़ने मात्र से सूर्य अपनी किरणों का परित्याग कर देता है, या कीचड़ के ऊपर अपनी शीतल चाँदनी बिखेरने से चन्द्रमा अपनी चाँदनी को छोड़ देता है? यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो मूल सम्बन्ध के कारण अक्षरातीत को भी क्या अधिकार है कि अपनी अर्धांगिनी को विरह की अग्नि में तड़पायें?

प्रकरण ॥ १ ॥ चौपाई ॥ १५ ॥

सरद रुत – राग सामेरी

शरद ऋतु (भादो, क्वार)

यद्यपि भादो मास में बहुत अधिक वर्षा होती है तथा उमस भी हो जाती है, पर निरन्तर वर्षा होने से हल्की-हल्की ठण्डक का भी आभास होने लगता है, इसलिये इसे शरद ऋतु का नाम दिया गया है। क्वार के महीने में रात्रि के समय तो शीत का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देने लगता है। अंग्रेजी गणना के अनुसार यह समय सितम्बर तथा अक्टूबर का होता है।

सरदनी रुत रे सोहामणी रलियामणी, मूने वालाजी विना केम जाए हो वालैया।

हूं रे वदेसण ना पिउजी, मूने खिण वरसां सो थाय, हो वलैया॥१॥

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे धाम धनी! यद्यपि यह शरद ऋतु बहुत ही सुहावनी एवं मनभावनी है, किन्तु

आपके बिना इसे व्यतीत कर पाना बहुत ही कठिन हो रहा है। आप नवतनपुरी में हैं, जबकि मैं आपसे दूर धरोल (विदेश) में रह रही हूँ। आपके विरह में एक-एक क्षण वर्षों के समान लम्बा प्रतीत हो रहा है।

भावार्थ— प्रेम की राह में प्रियतम का सहचर्य ही आनन्द का स्रोत होता है। इसके बिना किसी भी प्रकार से मानसिक सुख-शान्ति की आशा नहीं की जा सकती, भले ही सृष्टि का सारा सुख उसके चरणों में क्यों न हो? सुख की अवस्था में समय कैसे बीत जाता है, यह पता ही नहीं चलता। इसके विपरीत विरह के दुःख में एक-एक पल बिताना इतना कठिन होता है जैसे कई वर्षों का समय।

वाला जी रे डोहलाते जल वही गया, हवे आव्या ते निरमल नीर।
पिउजी विना हूं एकली, ते तां केम राखूं मन धीर।।२।।

हे प्रियतम! वर्षा ऋतु में चारों ओर दिखायी देने वाला मटमैला जल बह गया है और उसकी जगह स्वच्छ जल दिखायी दे रहा है। आपके बिना इस अकेलेपन में मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि जैसे मेरे लिये सारा संसार ही सूना हो गया है। अब आप ही बताइये कि मैं अपने मन में कैसे धैर्य रखूँ?

भावार्थ— भादो के उत्तरार्द्ध तथा कार के प्रारम्भ में प्रायः वर्षा का वेग थम जाता है, जिससे नदी-नालों तथा तालाबों का जल स्वच्छ दिखायी देने लगता है। ऐसे समय में नदियों तथा जलाशयों के किनारे प्रातः एवं सन्ध्या समय का दृश्य बहुत ही मनोरम होता है, किन्तु यह भी विरह में तड़पने वाली ब्रह्मात्मा को सम्मोहित नहीं

कर पाता। उसे तो मात्र एक ही धुन लगी रहती है कि कब उसका प्रियतम उसके समक्ष आकर दर्शन (दीदार) देगा।

वाला जी रे वन छाहूँ द्रुम वेलडी, हवे धणी तणी आवार।
हूँ रे वदेसण ना पिउजी, मूने चरणे तेडो आधार॥३॥

मेरे आराध्य! वन में लतायें वृक्षों से आलिंगनबद्ध होकर अपने प्रियतम का प्रेम प्रदर्शित कर रही हैं, किन्तु मैं कितनी भाग्यहीना हूँ जो आपसे दूर होकर विदेश (धरोल) में रह रही हूँ। आप मुझे भी अपने चरणों में शीघ्र-अति-शीघ्र क्यों नहीं बुला लेते?

भावार्थ- किसी भी विरहिणी की विरहाग्नि उस समय और बढ़ जाती है, जब वह किसी प्रेमी युगल को प्रणय (प्रेम) लीला में निमग्न देखती है। इस चौपाई में वृक्ष और

लता के रूपक के माध्यम से इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। यद्यपि श्री इन्द्रावती जी के द्वारा स्वयं को धरोल में मानना विदेश में रहना माना गया है, किन्तु सामूहिक रूप से सुन्दरसाथ परमधाम से इस नश्वर जगत में आने को भी विदेश में आना मान सकते हैं और अपने विरह की सुदृढ़ नींव डाल सकते हैं।

वालाजी रे नीझर जल रे डूंगर झरे, नदी सर भरिया निवाण।
 पण एक जल वालाजी विना, मारा विलखंता सूके प्राण॥४॥
 मेरे प्राणेश्वर! पर्वतों से झरनों का जल निरन्तर प्रवाहित हो रहा है। नदियों एवं तालाबों में भी भरपूर (लबालब) जल दिखायी दे रहा है, किन्तु आपके विरह में विलखते-विलखते मेरे प्राण सूखे जा रहे हैं। आपके हृदय में उमड़ने वाला प्रेम का सागर ही मेरे जीवन का

आधार है, जिसकी एक-एक बूँद के लिये भी इस समय मुझे तरसना पड़ रहा है।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी की आत्मा उपमा अलंकार के माध्यम से अपने विरह की पीड़ा को व्यक्त कर रही हैं। वे प्रेम भरा व्यंग्य भी करती हैं कि यदि जड़ पर्वतों से झरने में जल आता है, जो निरन्तर प्रवाहित होता है, तो आपके हृदय रूपी पर्वत से क्या मेरे हृदय रूपी झरने में जल नहीं आ सकता? क्या आपका हृदय पर्वतों की चट्टानों से भी अधिक कठोर है, जो अपने प्रेम को मेरे हृदय में प्रवाहित होने नहीं देना चाहता? उमड़ते-घुमड़ते भूरे बादलों ने तो नदियों और सरोवरों को जल से भर दिया है, किन्तु मेरा सूना हृदय प्रेम की एक बूँद पाने के लिये भी तरस रहा है? क्या आपका यही न्याय है? आप तो दया के सागर कहलाते हैं, किन्तु लगता है

कि जैसे मेरे लिये आपका हृदय कठोर पर्वतों और काले बादलों से भी कठोर एवं शुष्क हो गया है।

वालाजी रे जीव मारो मूने दहे, अंग ते उपजे दाझ।

अवगुण मारा छे अति घणा, तमे रखे मन आणो राज।।५।।

मेरे प्रियतम! मेरा जीव आपके विरह की अग्नि में जल रहा है। मेरे हृदय में मात्र आपका प्रेम पाने की ही चाहना है। यद्यपि मेरे अपराध बहुत अधिक हैं, फिर भी आप तो सर्वशक्तिमान हैं, सकल गुण निधान हैं, करुणा के सागर हैं। क्या आप मेरे अपराधों को भुला नहीं सकते?

भावार्थ— विरहिणी आत्मा अपने सर्वस्व का मात्र प्रेम चाहती है। इसके अतिरिक्त उसे सारे ब्रह्माण्ड का सुख भी अच्छा नहीं लगता। वह अपनी समर्पण भावना को प्रस्तुत करते हुए यही दर्शाती है कि जैसे सागर नदियों

की लघुता का कभी विचार नहीं करता, बल्कि उसे अपने में समाकर अपना ही स्वरूप बना लेता है, उसी प्रकार प्रेम, दया, आनन्द, और करुणा के अनन्त सागर कहलाने वाले अक्षरातीत मुझे क्यों नहीं अंगीकार कर रहे हैं? क्या मैं आपकी नहीं हूँ?

वालाजी रे श्रावण मासनी अष्टमी, काई कृष्ण पखनी जेह।

मूने ए रैणी वालाजी विना, घणूं दोहेली गई तेह।।६।।

मेरे सर्वस्व! आज भादों मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी है। आज ही के दिन आपकी ब्रज लीला वाले श्री कृष्ण तन का जन्म हुआ था। इस मनोहर घड़ी में जब आप मेरे पास नहीं हैं, तो मुझे इस रात को व्यतीत कर पाना बहुत ही कष्टकारी लग रहा है।

भावार्थ— गुजराती पञ्चांग के अनुसार श्रावण मास के

कृष्ण पक्ष की अष्टमी को जन्माष्टमी होती है, जबकि हिन्दी पञ्चांग के आधार पर भादो मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी पर जन्माष्टमी होती है।

इसका कारण यह है कि विक्रम सम्वत् का प्रारम्भ गुजराती पञ्चांग के अनुसार कार्तिक-शुक्ल पक्ष एकम् से होता है। वह दिन, अर्थात् दीपावली के बाद का पहला दिन, ही वर्ष का प्रथम दिन माना जाता है। जबकि हिन्दी पञ्चांग के अनुसार कार्तिक मास का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष एकम् से होता है। इसलिये जब कृष्ण पक्ष की कोई तिथि ली जायेगी, तब गुजराती पञ्चांग के अनुसार जो मास आयेगा, वह हिन्दी पञ्चांग के अनुसार उसके बाद का मास होगा।

यह सर्वविदित है कि जब अक्षर ब्रह्म की आत्मा ने धनी के आवेश के साथ श्री कृष्ण जी के तन में प्रवेश किया

उस समय नवमी की तिथि हो चुकी थी। तारतम प्रणालिका के अनुसार उस समय पहला प्रहर बीत चुका था, अर्थात् प्रातः नौ बजे का समय था।

मूल सूरत अछर की जेह, जिन चाह्या देखो प्रेम सनेह।
सो सूरत धनी को ले आवेस, नंद घर कियो प्रवेस।।

प्रकास हिन्दुस्तानी ३७/२९

किन्तु अष्टमी तिथि की विशेषता यह है कि इस दिन उस कलेवर का जन्म हुआ, जिसमें धाम धनी ने विराजमान होकर लीला की। तारतम ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण जनमानस में इस बात का बोध नहीं था कि अक्षरातीत की लीला नवमी से प्रारम्भ होती है, अर्थात् धाम धनी का प्रकटन नवमी को हुआ है। लोक-परम्परा का अनुसरण करते हुए उस समय सुन्दरसाथ में भी अष्टमी को ही विशिष्टता देने की भावना थी।

यही कारण है कि श्री इन्द्रावती जी ने अष्टमी की उस विशेष रात्रि को याद किया है, जिसमें इस नश्वर जगत में धाम धनी का लीला रूपी तन प्रकट हुआ।

किन्तु तारतम वाणी के प्रकाश में आज आवश्यकता है कि केवल नवमी के दिन ही धाम धनी का प्राकट्य उत्सव मनाया करें।

वालाजी रे एम तमे मोसूं कां करो, मारा हो प्राणनाथ।

आवी करूं तमसूं गुझडी, मारी वीतकनी जे वात।।७।।

आप मेरे प्राणनाथ हैं, मेरी आत्मा के आधार हैं। फिर भी आप मुझे विरह में इस प्रकार क्यों तड़पा रहे हैं? मेरी एकमात्र यही इच्छा है कि मैं आपके पास आ जाऊँ और अपने विरह की पीड़ा के गोपनीय पलों को आपके सामने व्यक्त कर दूँ।

भावार्थ- विरह की अग्नि में तिल -तिल जलने वाली विरहिणी अपने मन के भावों को अपने प्रेमास्पद (श्री राज जी) के अतिरिक्त अन्य किसी से भी नहीं कह सकती, क्योंकि संसार तो उसका उपहास ही उड़ायेगा। यही कारण है कि इस चौपाई के तीसरे चरण में गुझड़ी, अर्थात् गुह्य (रहस्यमयी), शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रेमी और प्रेमास्पद (आशिक तथा माशूक) की आन्तरिक बातों को भला तीसरा कैसे जानने का अधिकार रख सकता है? वैसे भी विरहिणी की प्रत्येक आह में उसका प्रियतम बसा होता है, जो उसका सर्वस्व होता है। उन खूबसूरत पलों को सार्वजनिक करना प्रेम की गरिमा पर कुठाराघात करना होता है, क्योंकि मोह से उत्पन्न होने वाला यह जगत् मात्र प्रेम का उपहास करना जानता है। यह विरह की पीड़ा के प्रति न तो संवेदनशील

होने की योग्यता रखता है और न उस राह का अनुसरण ही करना चाहता है।

वालाजी रे अष्टमी भादरवा तणी, कांई सुकल पखनी रात।
ए रैणी रुडीय छे, मारा जनम संघाती साथ॥८॥

धाम धनी! आज भादो मास के शुक्ल पक्ष की वह शुभ रात्रि है, जिसमें राधिका जी का जन्म हुआ था। यद्यपि यह रात्रि औरों के लिये बड़ी ही अच्छी है, किन्तु इस खेल में आने पर आपका साथ न होने से यह रात्रि भी मेरे लिये विरह के कष्ट को और अधिक बढ़ा रही है।

भावार्थ- श्री देवचन्द्र जी के अन्दर श्यामा जी की आत्मा थी, जो ब्रज में राधिका जी के जीव के ऊपर विराजमान होकर लीला कर चुकी थी। यही कारण है कि श्री इन्द्रावती जी की आत्मा ने राधिका जी के जन्मदिन

राधा अष्टमी को बहुत ही आनन्दमयी माना है। जन्म-जन्म का साथी कहने का तात्पर्य है, अक्षरातीत का आवेश स्वरूप से ब्रज, रास, एवं जागनी लीला में साथ-साथ रहना।

वालाजी रे में तां एम न जाण्यूं, जे मोसूं थासे एम।

जो हूं जाणूं करसो विरहणी, तो कंठ बांहोंडी टालूं केम॥१॥

मेरे राज! मुझे यह मालूम ही नहीं था कि मुझे इस तरह विरह की धधकती ज्वालाओं में जलना पड़ेगा। यदि मुझे पहले ही यह पता चल जाता कि थोड़ी सी भूल के कारण मुझे विरह की असहनीय पीड़ा झेलनी पड़ेगी, तो मैं आपके गले से अपने हाथ ही नहीं हटाती।

भावार्थ- श्री मिहिरराज जी को अब अपनी उस भूल का अहसास हो रहा है कि उन्होंने सद्गुरु धनी श्री

देवचन्द्र जी के द्वारा प्रणाम स्वीकार न किये जाने पर, स्वाभिमान की भावना से, यह निर्णय क्यों कर लिया कि जब तक सद्गुरु महाराज नहीं बुलायेंगे तब तक मैं नहीं आऊँगा। यदि श्री मिहिरराज श्यामल जी के घर जाने के बदले सद्गुरु महाराज के चरणों में अनशन करके बैठ जाते तो क्या श्री देवचन्द्र जी उन्हें बलपूर्वक वहाँ से निकाल देते? कदापि नहीं। श्री इन्द्रावती जी एवं धाम धनी का प्रेम अखण्ड है। इसे ही चौथे चरण में आलिंगनबद्ध अवस्था में वर्णित किया गया है। श्री राज जी के गले से अपनी बाँहें हटाने का आशय है, श्री मिहिरराज जी का सद्गुरु से विमुख होकर ४ वर्षों तक अलग रहना।

वालाजी रे भादरवा मासनी चतुरदसी, काँई अति अजवाली थाय।
एह समे नव साचव्यो, मारुं तरवारे अंग तछाय॥१०॥

मेरे प्राणवल्लभ! आज भादो मास के शुक्ल पक्ष की चतुदर्शी की मनोरम रात्रि है, जिसमें चन्द्रमा का शीतल प्रकाश चारों ओर फैला हुआ है। इस दिन तक भी मैं आपको पहचानने का वास्तविक प्रयत्न नहीं कर सकी थी। अब मेरे मन में यही बात आ रही है कि अपनी भूल के प्रायश्चित्त के लिये तलवार से अपने शरीर के एक-एक अंग को काट डालूँ।

भावार्थ— षट्ऋतु की वाणी हब्शे में विक्रम सम्वत् १७१५ में उतरी है। इसमें विक्रम सम्वत् १७०८ - १७१५ के मध्य की विरह सम्बन्धी सभी अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। उपरोक्त चौपाई में सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के अन्तर्धान होने के पश्चात् श्री मिहिरराज जी को विरह की जिस पीड़ा का अनुभव हुआ, उसका वर्णन किया गया है। षट्ऋतु की अगली चौपाई

(२/११) तथा प्रकाश ग्रन्थ में भी विरह की उसी मनोदशा का वर्णन है।

वालाजी ए रैणी रे सिधाविया, वालो पोहोंता ते धाम मंझार।
एणे समे मूने एकली, तमे कांय राखी आधार॥११॥

मेरे जीवन के आधार! इस रात्रि को आप धाम चले गये, अर्थात् आपने अपने पञ्चभौतिक तन का परित्याग कर दिया। आप ही बताइये कि इस झूठे जगत् में मुझे विलखते रहने के लिये अकेले छोड़कर क्यों चले गये?

भावार्थ— इस रात्रि को युगल स्वरूप श्री देवचन्द्र जी के तन को छोड़कर श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान हो गये, किन्तु माया की फरामोशी के कारण उन्हें इसका आभास नहीं हो सका।

वालाजी रे तमे तो घणुंए जणावियुं, पण में नव जाण्युं हूं अधम।

जो हूं जाणूं थासे एवडी, तो तमने मूकूं केम॥१२॥

मेरे धाम धनी! आपने तो मुझे अपनी बहुत अधिक पहचान दी थी, किन्तु मैं ही ऐसी अधम (नीच) हूँ कि मैं आपके वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान सकी। यदि मुझे पहले ही इस बात का पता चल गया होता कि आप मुझे छोड़कर धाम जाने वाले हैं, तो मैं आपको कैसे छोड़ देती अर्थात् मैं आपको अपने धाम हृदय में बसाकर आपसे इतना प्रेम करती कि आप अपने तन को छोड़कर जाते ही नहीं।

भावार्थ— यद्यपि सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी ने अपनी अलौकिक लीलाओं के द्वारा श्री मिहिरराज जी को अपनी पहचान देने का पूरा प्रयास किया था, किन्तु माया की फरामोशी के कारण श्री मिहिरराज धाम धनी

की पहचान नहीं कर सके और श्री देवचन्द्र जी को मात्र सद्गुरु के रूप में मानते रहे। हृदये में विरह की अग्नि में जलने पर जब उन्होंने सिंहासन पर श्री राज जी के बगल में श्यामा जी के स्थान पर श्री देवचन्द्र जी को बैठे हुए देखा, तो उन्हें अपनी भूल का अहसास हुआ कि—

मेरे धनी धाम के दुलहा, मैं कर न सकी पेहेचान।

सो रोऊं मैं याद कर कर, जो मारे हेत के बान॥

किरंतन ७५/१

अपनी इस भूल को प्रायश्चित के स्वरों में श्री इन्द्रावती जी व्यक्त करती हैं कि यदि मैंने अपने आराध्य को पहचान कर उनसे यथार्थ रूप में प्रेम किया होता, तो सम्भवतः वे मुझे छोड़कर धाम नहीं जाते। इस चौपाई के चौथे चरण में सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी को छोड़ने का तात्पर्य है, उनके धाम हृदय में विराजमान युगल स्वरूप

को न पहचानना और न उनसे प्रेम करना।

वालाजी रे चतुरदसी आसो तणी, कांई ब्रह्मांड थयो प्रकास।

ए रजनी मूने एकली, तमे कांय मूकी निरास॥१३॥

मेरे प्राणनाथ! आज करार मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी है। आज ही के दिन आप इस संसार में अवतीर्ण हुए, जिससे समस्त ब्रह्माण्ड में तारतम ज्ञान का उजाला फैला है। आपके इस प्रकटन तिथि की मनोहर रात्रि में भी मुझे आपके वियोग का असहनीय कष्ट झेलना पड़ रहा है। आप मुझे दर्शन न देकर इस प्रकार निराश क्यों कर रहे हैं?

भावार्थ— सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी का जन्म आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को हुआ था। विगत चार वर्षों के वियोग में श्री मिहिरराज जी को इस तिथि पर

विरह की असह्य वेदना हुआ करती थी कि आज के दिन भी उन्हें सद्गुरु के चरणों में जाने का अवसर प्राप्त नहीं हो रहा है। यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में अक्षरातीत के विराजमान होने के पश्चात् ही तारतम ज्ञान का प्रकाश फैला। दूसरे शब्दों में अक्षरातीत के चरण कमलों का इस नश्वर जगत में आना ही ब्रह्माण्ड में उजाला होना है।

वालाजी रे पूनम रातनो चांदलो, कांई वन सोभे अपार।

रासनी रातनो ओछव, मूने कां न तेडी आधार॥१४॥

मेरे प्रियतम! आज पूर्णिमा की रात्रि का चन्द्रमा जगमगा रहा है, जिससे वनों की अनुपम शोभा हो रही है। इस मनोहर रात्रि में महारास का उत्सव भी मनाया जा रहा है। आप तो मेरे जीवन के आधार हैं। मुझे शीघ्र ही अपने

पास क्यों नहीं बुला लेते?

भावार्थ— क्वार मास की पूर्णिमा महारास की रात्रि मानी जाती है, जिसमें ब्रह्मात्माओं ने अपने सर्वस्व (श्री राज जी) के प्रेम का भरपूर आनन्द लिया था। विरह की इस बेला में श्री इन्द्रावती जी का हृदय अपनी पीड़ा को इन स्वरों में व्यक्त करता है कि प्राणेश्वर ! क्या मैं ही एक अभागिन (मन्दभाग्या) हूँ, जो आपके मुखारविन्द का दर्शन भी प्राप्त नहीं कर रही हूँ?

वालाजी रे अवगुण मारा छे अति घणा, तमे रखे मन आणो धणी।
विरहणी कहे मूने तम विना, अम ऊपर थई छे घणी॥१५॥
मेरे आराध्य! मैं यह मानती हूँ कि मेरे अन्दर अवगुणों का भण्डार (खान) है, किन्तु आप तो सर्वसमर्थ हैं। उन्हें अपने मन में अभी तक क्यों बसाये हुए हैं ? मेरे

अपराधों को अपने मन से निकाल क्यों नहीं देते ?
 आपके विरह में तड़पने वाली इन्द्रावती की आत्मा
 आपसे पुकार-पुकार कर यह बात कह रही है कि आप
 जरा इस बात का भी तो विचार कीजिए कि आपके बिना
 मेरे ऊपर क्या बीत (गुजर) रही है। मेरे ऊपर तो विरह
 के दुःखों का पहाड़ ही टूट पड़ा है।

वालाजी रे विनता विरहणी केम कीजिए, एवडो न कीजे रोष।
 जो जीव देह मूकी चालयो, तमे त्यारे थासो निरदोष॥१६॥
 प्राण प्रियतम! अन्ततोगत्वा मैं आपकी अर्धांगिनी ही तो
 हूँ। आप मुझे अपने विरह की अग्नि में क्यों जला रहे हैं ?
 मेरे ऊपर इतना रोष (सूक्ष्म क्रोध) तो न कीजिए? क्या
 ऐसा करना आपको शोभा देता है? आपके विरह में
 तड़पते-तड़पते यदि मेरा शरीर छूट जायेगा, तो याद

रखिए, इसके दोषी आप ही होंगे। आप किसी भी प्रकार से अपने को दोषमुक्त सिद्ध नहीं कर सकते।

भावार्थ— क्रोध और रोष में सूक्ष्म सा अन्तर होता है। क्रोध परायेपन की भावना से किया जाता है और रजोगुण-तमोगुण से प्रेरित होता है, किन्तु रोष में अपनापन होता है। ऊपर से क्रोध की झलक अवश्य दिखायी देती है, किन्तु हृदय में अपनापन एवं स्नेह का सरोवर क्रीड़ा करता रहता है।

हवे चित आणी चरणे तेडजो, विरहणी टालो आधार।

एणे वचने इंद्रावतीने, वालो तेडी लेसे तत्काल॥१७॥

आप ही मेरे जीवन के आधार हैं। अब तो मेरी आह भरी बातों पर ध्यान देकर अपने चरणों में बुला लीजिए और मेरे विरह की पीड़ा को दूर कर दीजिए। श्री इन्द्रावती जी

कहती हैं कि मुझे विश्वास है कि आप मेरे इन वचनों से अवश्य ही पिघलेंगे (द्रवित हो जायेंगे) और शीघ्र ही अपने चरणों में बुला लेंगे, ताकि मैं आपका जी भरकर दर्शन (दीदार) कर सकूँ और अपने प्रेम की प्यास मिटा सकूँ।

प्रकरण ॥ २ ॥ चौपाई ॥ ३२ ॥

हेमंत रुत (कार्तिक, मगसर) – राग सिंधुड़ा

हेमन्त ऋतु (कार्तिक, मार्गशीर्ष)

हेमन्त ऋतु का समय कार्तिक-अगहन (मार्गशीर्ष) मास में होता है। अंग्रेजी गणना में यह समय नवम्बर-दिसम्बर का होता है। "हेमन्त" शब्द का सम्बन्ध "हिम" से है, जिसका तात्पर्य बर्फ की तरह शीतल होता है। इस ऋतु में शीतकाल का मनोहर दृश्य होता है, जो विरहिणी के विरह को और अधिक प्रज्वलित करता है। उन्ही भावों को श्री इन्द्रावती जी के शब्दों में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

रुतने आवी रे वालैया हेमनी, मेघलियो गयो पोताने घेर आप।
 रुतने सीतल रे लागे मूने दोहेली, हवे मूने कां न तेडो प्राणनाथ॥१॥
 हे प्राणनाथ! अब हेमन्त ऋतु आ गयी है, क्योंकि

आकाश में बादल दिखायी नहीं दे रहे हैं। लगता है वे अपने घर चले गये हैं। इस ऋतु में शीतल हवा के झोंके मुझे कष्ट दे रहे हैं। ऐसे समय में आप मुझे अपने पास क्यों नहीं बुला लेते?

भावार्थ— बादलों का घर चले जाना आलंकारिक कथन है। ग्रीष्म ऋतु में उष्णता के कारण जल का वाष्पीकरण होता है, जिससे बादलों का निर्माण होता है। हेमन्त ऋतु में यह अवस्था नहीं होती, जिससे बादलों का न तो निर्माण होता है और न ही वे दिखायी देते हैं। इसे ही बादलों का अपने घर चले जाना (अदृश्य हो जाना) कहते हैं। पाँच तत्वों में आकाश सबसे सूक्ष्म है, इसलिये आकाश छोड़कर कहीं और चले जाना सम्भव ही नहीं है।

शीतल हवा के झोंके श्री इन्द्रावती जी को वैसे ही

कष्टकारी लग रहे हैं, जैसे सौत अपने पति के प्रेम को दर्शाते हुए व्यंग्य भरे वचनों से विरहिणी के हृदय को व्यथित करती है। शीतल हवा के मधुर झोंके इस ऋतु के प्राकृतिक सौन्दर्य को और अधिक बढ़ा देते हैं। यदि प्रकृति प्रियतम (परमात्मा) के प्रेम का रसपान करने का अधिकार रखती है, तो परमधाम की ब्रह्मात्मा श्री इन्द्रावती जी को नजरअंदाज क्यों किया जा रहा है, जबकि वह अपने धनी की प्राणेश्वरी हैं, हृदयेश्वरी हैं? क्या ये शब्द उसे मात्र चिढ़ाने के लिये ही कहे गये हैं?

अंबरियो ने थयो रे वालाजी निरमलो, वादलियो गयो पोताने घर ठाम।
हजी न संभारो रे वाला तमे विरहिणी, कां न भाजो रे रुदयानी हाम॥२॥
हे धनी! काले-काले बादलों के अदृश्य हो जाने तथा धूलरहित होने से इस समय आकाश बहुत ही स्वच्छ

दिखायी दे रहा है, किन्तु मुझे लगता है कि आप विरह में तड़पती हुई मुझ अंगना को अभी भी याद नहीं कर रहे हैं। अपने इस रूखेपन को छोड़कर आप मुझे प्रेम का उपहार क्यों नहीं देते, जिसे पाने के लिये मेरे हृदय में अति प्रबल चाहना है?

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी की आत्मा यह प्रश्न करती है कि मेरे प्राणेश्वर! आपके मन रूपी आकाश में संशय के बादल कब तक छाये रहेंगे? बालबाई की चुगली रूपी धूल कब तक उड़ती रहेगी? आप इतने निष्ठुर क्यों हो गये हैं? मैं आपकी याद में एक-एक पल तिल-तिल कर बिता रही हूँ और आप मुझे कभी याद भी नहीं करते। क्या मेरी आत्मा से आपका कोई सम्बन्ध नहीं है? क्या आप का प्रेम पाने के लिये मैं यूँ ही तड़पती रहूँगी? क्या मुझे इतना भी अधिकार नहीं है कि मैं प्रेम पाने की अपने

हृदय की इच्छा रूपी प्यास आपसे मिटा सकूँ?

हो दरसण ने दीजे रे वालैया दया करी, आ रुत में न खमाय।
 जुओने विचारी रे वालैया जीवसूं, कालजडूं मारूं मांहे कपाय।।३।।
 मेरे आराध्य! अब तो मेरे ऊपर दया करके दर्शन दे दीजिए। हेमन्त ऋतु की इस मनोहर वेला में आपका वियोग सहन नहीं होता। यदि आप अपने अन्दर विचार करके देखें तो आपको मेरी इस दयनीय अवस्था के बारे में अच्छी तरह से विदित (ज्ञान) हो जायेगा कि आपके विरह में मेरा हृदय फट (कट) कर टुकड़े-टुकड़े हो रहा है।

भावार्थ- यद्यपि अक्षरातीत के साथ जीव शब्द का सम्बोधन उचित नहीं है, किन्तु चिन्तन, मनन, एवं विवेचन की प्रक्रिया जीव के अन्तःकरण के द्वारा ही की

जाती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर जीव से विचार करने का प्रसंग है। श्यामा जी की आत्मा के धाम हृदय में अक्षरातीत का आवेश अवश्य विराजमान है, किन्तु बाह्य व्यवहार तो जीव के द्वारा ही हो रहा है। इसलिए जीव के द्वारा विचार करने की बात कही गयी है। वस्तुतः यहाँ जीव का तात्पर्य हृदय से है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सकल-गुण-निधान अक्षरातीत को विचार करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, वे तो सब कुछ जानते हैं।

नैणाने तरसे रे वालाजी ने निरखवा, श्रवणा तरसे वाणी रसाल।
वाचाने तरसे रे वालाजीसूं वातडी, जाणूं करी काढूं रुदयानी झाल॥४॥
मेरे जीवन के आधार! मेरे नेत्र आपका जी भरकर दर्शन
(दीदार) करने के लिये तरस रहे हैं। मेरे दोनों कान तरस
रहे हैं कि कब उन्हें आपकी अमृत से भी मधुर मीठी

वाणी सुनने को मिलेगी? आपसे प्रेम भरी बातें करने के लिये मेरी वाणी (जिह्वा) तड़प रही है। जब तक मैं इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर लेती, तब तक मेरे हृदय में धधकने वाली विरह की ज्वालायें शान्त नहीं होंगी।

अंगने तरसे रे वालाजीने भेटवा, जीव तरसे जोवा मांहेली जोत।
 जो पेहेलूने जाणूं रे मोसूं थासे एवडी, तो निध हाथ आवी केम खोत॥५॥
 मेरे अंग-अंग आपसे आलिंगबद्ध होने के लिए तरस रहे हैं। मेरा जीव इस बात के लिये तड़प रहा है कि कब उसे आपके हृदय में विद्यमान तारतम ज्ञान की अखण्ड ज्योति का रसास्वादन प्राप्त होगा? यदि मुझे पहले ही इस बात का भान (आभास) हो गया होता कि अलग होकर मुझे इस प्रकार विरह की अग्नि में तिल-तिल करके जलना होगा, तो मैं कभी भी इस प्रकार भयंकर

भूल नहीं करती और अपने सामने प्रत्यक्ष विराजमान आप धाम धनी को रिझाने का सुनहरा अवसर कभी भी नहीं खोती।

भावार्थ— "हाथ में निधि आना" एक मुहावरा है जिसका अर्थ है, परब्रह्म को श्री देवचन्द्र जी के तन में प्रत्यक्ष पालेना। बालबाई की चुगली से आहत होकर श्री मिहिरराज जी का स्वाभिमान जाग्रत हो उठा था और उन्होंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि सद्गुरु महाराज! यदि आपको बालबाई के कथनों पर ही विश्वास है मेरे ऊपर नहीं, तथा आप मेरे प्रणाम को स्वीकार करना भी उचित नहीं मानते, तो मैं भी आपके बुलाये बिना आपके पास नहीं आऊँगा। बाद में विरह की अग्नि में तड़पते हुए मिहिरराज को आभास हुआ कि उनसे बहुत बड़ी भूल हो गयी है। उन्हें तो प्रत्येक स्थिति में स्वयं को धनी के चरणों में

समर्पित कर देना चाहिए था और अपनी प्रेम भरी सेवा से उन्हें रिझा लेना चाहिए था।

किन्तु यह सारी नाटकीय लीला श्री मिहिरराज जी को विरह की कसौटी पर खरा सिद्ध करने के लिये ही की गयी। यह तो सर्वविदित है कि वि. सं. १७००-१७०३ तक श्री मिहिरराज ने स्वयं को कष्ट-साध्य साधनाओं में लगा दिया था, किन्तु उसमें विरह का वह रस नहीं था जिसकी अनिवार्य उपस्थिति ही प्रियतम अक्षरातीत का साक्षात्कार कराती है।

श्री मिहिरराज को इस कसौटी पर खरा सिद्ध करने के लिये ही मूल स्वरूप श्री राज जी की प्रेरणा से ऐसा वातावरण उत्पन्न किया गया, जिसमें श्री मिहिरराज का हृदय विरह की भट्टी में तपकर कुन्दन बन जाये, क्योंकि भविष्य में श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान

होकर ही उन्हें लीला करनी थी।

यदि मिहिरराज हब्शे में विरह की परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाते, तो उन्हें युगल स्वरूप का साक्षात्कार कैसे होता? उस अवस्था में तारतम वाणी का अवतरण भी नहीं हो पाता तथा सुन्दरसाथ को भी विरह की राह अपनाने की शिक्षा नहीं मिल पाती।

यह कदापि सम्भव नहीं कि श्री देवचन्द्र जी के जिस तन में अक्षरातीत विराजमान हों, वह तन बालबाई तथा बिहारी जी के षड्यन्त्रों को न समझ सके तथा उनके दबाव में झुक जाये। श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान अक्षरातीत मेहर के सागर हैं। वे प्रणाम स्वीकार न करने जैसा निष्ठुर कार्य कदापि नहीं कर सकते थे, किन्तु जानबूझकर उन्होंने अपने लीला रूप वर्तमान तन पर इस रूखे व्यवहार का दाग लगवाया और

श्री मिहिरराज जी को विरह की अग्नि में तपाकर इस योग्य बनाया कि हृदये में वे अक्षरातीत की शोभा को धारण कर सकें। यही तो आशिक (प्रेमी) की आशिकी है, जो अपने माशूक (प्रेमास्पद) का पल-पल हित चाहता है। उसको शोभा देने के लिये वह स्वयं के ऊपर दाग लगा लेता है। भला उसकी इस विचित्र लीला को सामान्य बुद्धि से कैसे समझा जा सकता है?

साथने मेली बेठो छो ज्यारे सामटा, त्यारे अम विना तमने केम सुहाय।

मूने रे मारा वालैया तम विना, पलने प्रले काल जेम थाय।।६।।

मेरे प्राणवल्लभ! जरा एक बात तो बताइये कि जब आप सब सुन्दरसाथ के साथ बैठे रहते हैं, तो आपको मेरे बिना कैसे अच्छा लगता है? क्या आपने कभी मेरे बारे में भी सोचा है कि आपके वियोग में मेरा एक-एक पल

प्रलयकाल के समान कष्टकारी प्रतीत होता है।

अवगुण मारा रे वाला अति घणा, धणी विना केहेने कहूं मारा श्री राज।

वालाजी विना रे अंग अगनी बले, देह मांहें उपजे रे दाझ।।७।।

मेरे श्री राज! मैं यह खुले हृदय से स्वीकार करती हूँ कि मेरे अन्दर बहुत अधिक अवगुण हैं। किन्तु आप ही बताइये कि आपके अतिरिक्त मेरा और कौन है, जिससे मैं अपने मन की पीड़ा व्यक्त करूँ ? मेरे अंग-अंग में विरह की जो ज्वाला धधक रही है, उससे मेरा सम्पूर्ण शरीर ही दग्ध हो रहा है। इस प्रकार मेरे हृदय में इस बात की प्रबल चाहना है कि मैं किसी भी प्रकार से आपका दीदार (दर्शन) कर लूँ।

वनने छाहूँ रे वाला द्रुम वेलडी, सीतल धराने सीतल वाए।
सीतल जलने सीतल छांहेडी, पण मारे अंग लागे अति दाहे॥८॥

वन में वृक्षों से लतायें लिपटी हुई हैं। उनसे बहने वाली शीतल, मन्द, और सुगन्धित हवा के झोंकों ने पृथ्वी को भी शीतल बना दिया है। नदियों, झरनों, तथा सरोवरों के शीतल जल से आच्छादित धरती शीतलता के रस में ओत-प्रोत हो रही है। वृक्षों की शीतल छाया उसकी उपमा में और चार चाँद लगा रही है, किन्तु एकमात्र मैं ही ऐसी मन्दभाग्या हूँ, जिसके अंग-अंग में विरह की धधकती ज्वालाओं से उष्णता का संचार हो रहा है।

भावार्थ— इस चौपाई में उपमा अलंकार के माध्यम से प्रेम की पीड़ा को व्यंग्यात्मक भावों द्वारा व्यक्त किया गया है। श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि वृक्षों से लिपटी हुई लतायें प्रिया-प्रियतम के मधुर प्रेम को दर्शा रही हैं।

शीतल जल तथा शीतल हवा के झोंकों से जब सारी प्रकृति शीतलता के रस में आकण्ठ डूबी हुई दिखायी दे रही है, तो मेरे धाम धनी! मुझे किस अपराध की सजा में विरह का ताप झेलना पड़ रहा है। क्या आप यही चाहते हैं कि अपने प्रियतम वृक्षों से लिपटी हुई ये लतायें मुझे चिढ़ाती रहें? क्या ऐसा करने से आपको आनन्द आ रहा है?

आपका हृदय तो प्रेम का सागर कहलाता है। उसकी एक बूँद भी यदि मुझे प्राप्त हो जाती, तो मेरे विरह का कष्ट दूर हो जाता। मेरे प्रति प्रेम में आप इतनी कृपणता क्यों दिखा रहे हैं? क्या पृथ्वी पर प्रवाहित होने वाला जल आपके हृदय में विराजमान प्रेम के सागर से अधिक श्रेष्ठ है? क्या मेरा तड़पता हुआ हृदय आपको जड़ पृथ्वी से भी अधिक तुच्छ लग रहा है?

हो दाङ्गने भाजो रे वाला मारा अंगनी, जेम मूने थाय करार।
 सुंदर धणी रे सोहामणां, विरह न खमाए जीवना आधार।।९।।
 मेरे मन को मुग्ध करने वाले, अति सुन्दर, मेरे धनी!
 आप ही मेरे जीवन के आधार हैं। अब आपके विरह का
 कष्ट सहा नहीं जाता। मेरे हृदय में दहकने वाली विरह की
 अग्नि को बुझाकर दर्शन का सुख दीजिए, जिससे मुझे
 शान्ति मिल जाये।

अण ने जाण्या रे दुख अनंत सह्या, पण जाण्युं दुख केम खमाय।
 वालाजी विना रे हवे जे घडी, ते ता जीवने कठण घणूं जाय।।१०।।
 जब तक मैं अनजानेपन में थी, अर्थात् मुझे आपके
 स्वरूप की पहचान नहीं थी, तब तक मैंने आपके विरह
 का अनन्त दुःख सहन कर लिया। किन्तु अब तो मुझे
 यह स्पष्ट पहचान हो गयी है कि आपके स्वरूप में साक्षात्

श्री राज जी ही लीला कर रहे हैं, तो ऐसी स्थिति में आपके विरह का कष्ट सहन नहीं होता। अब आपके बिना मेरा जो भी समय बीत रहा है, उसे सहन कर पाना मेरे जीव के लिये बहुत ही कष्टकारी है।

भावार्थ— सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के चरणों में जाने से पूर्व श्री मिहिरराज जी को अक्षरातीत के विषय में कुछ भी पता नहीं था। तारतम ज्ञान के प्रकाश में जैसे-जैसे उन्हें धाम धनी की पहचान होने लगी, वैसे-वैसे उनके अन्दर विरह पैदा होने लगा। वि. सं. १७००-१७०३ तक उन्होंने स्वयं को कठिन साधनाओं से गुजारा। इस समय आड़िका लीला तथा चर्चा के प्रभाव से यह तो पता था कि श्री राज जी सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के द्वारा ही जागनी लीला कर रहे हैं, किन्तु यह बोध नहीं था कि साक्षात् उन्हीं के रूप में लीला कर रहे हैं।

बालबाई की मध्यस्थता में सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के द्वारा पहचान दिये जाने पर उन्हें विश्वास तो हो गया, किन्तु कुछ धुँधलका था। सद्गुरु द्वारा प्रणाम स्वीकार न किये जाने पर अल्प समय के लिये वह धुँधलका कुछ बढ़ भी गया, किन्तु धनी की मेहर से कुछ ही दिनों में विरह की अग्नि प्रज्वलित होने लगी। चार वर्षों में श्री मिहिरराज जी को श्री राज जी के स्वरूप की बहुत अधिक पहचान हो चुकी थी, किन्तु स्वाभिमान का एक झीना पर्दा अभी भी पड़ा हुआ था। हृदय में विरह जब चरम अवस्था में पहुँच गया, तो उस युगल स्वरूप के दर्शन के पश्चात् उन्हें अपने प्राणेश्वर की यथार्थ पहचान हो गयी। उस अवस्था को पूर्व की अवस्था के साथ जोड़कर इस चौपाई में यह बात दर्शायी गयी है कि आपकी पहचान हो जाने के पश्चात् आपका वियोग सहन

कर पाना सम्भव नहीं है।

इस चौपाई से उन सुन्दरसाथ को यह शिक्षा लेनी चाहिए, जो हुक्म तथा जगत की नश्वरता की ओट में अक्षरातीत का इस नश्वर जगत में आना मानते ही नहीं। यदि श्री राज जी इस जगत् में आये ही नहीं, तो ब्रज एवं जागनी की लीला किसने की? प्रगटवाणी की इस चौपाई के कथन "इन तीनों में ब्रह्मलीला भई, ब्रज रास और जागनी कही" का आशय क्या करेंगे? क्या श्री मिहिरराज जी के द्वारा श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में और श्री छत्रशाल जी के द्वारा श्री महामति जी के धाम हृदय में अक्षरातीत की पहचान निरर्थक थी?

विखम विरह रे वालैया आ रुतनो, ते ता सुखम थाए मले जीवन।
हवे ने कहो रे वालैया तेम करुं, जीव दुख पामे रे मन॥११॥

मेरे प्राणजीवन! इस मनोहारिणी हेमन्त ऋतु में आपके विरह की पीड़ा को सहन कर पाना बहुत ही दुष्कर (कठिन) लग रहा है। मेरे हृदय की यह पीड़ा तभी आनन्द में बदल सकती है, जब प्रत्यक्ष रूप से आपकी सान्निध्यता (निकटता, साथ) प्राप्त हो। अब आप जो भी कहें, उसे मैं करने के लिये तैयार हूँ, क्योंकि मेरे जीव का मन विरह की असहनीय पीड़ा में बहुत अधिक दुःखी हो रहा है।

दीपनो मेलो रे ओछव अति भलो, जिहां सिणगार करो धणी सर्व साथ।
एणे रे समे वाला मूने तेडजो, जेम आवीने मलूं मारा प्राणनाथ॥१२॥

आज दीपावली का अति मनोहर उत्सव है। यह बात मैं अच्छी तरह से जानती हूँ कि आप सब सुन्दरसाथ के साथ आज उत्सव में सम्मिलित होने के लिये आकर्षक

वस्त्रों को धारण करेंगे। मेरे प्राणेश्वर! इस मधुर वेला में क्या आप मुझे बुला भी नहीं सकते? कम से कम मुझे अपने पास तो बुला लीजिए, जिससे मैं आपका जी भरकर दीदार (मधुर दर्शन) कर लूँ और आपसे गले मिल लूँ।

साथने सुणो रे कहूं एक वातडी, धणी मुने देता केटलू मान।

ए सुख मांहेथी काढी करी, करमे दीधूं ततखिण राण॥१३॥

हे साथ जी! एक बहुत ही विशेष बात है, जिसे मैं कह रही हूँ। उसे आप ध्यानपूर्वक सुनिये। इस बात को आप अच्छी तरह से जानते ही हैं कि धाम धनी सुन्दरसाथ में मुझे कितना मान देते थे। किन्तु मेरे अशुभ कर्मों ने मुझे सुन्दरसाथ के प्रेम भरे सुखों से अलग कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप, उसी क्षण मेरा जीवन वीरान (सूना) हो

गया।

भावार्थ— सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी श्री मिहिरराज जी से बहुत अधिक आत्मिक प्रेम करते थे, जिससे सुन्दरसाथ श्री मिहिरराज जी को बहुत अधिक सम्मान की दृष्टि से देखता था। इसे ही सद्गुरु द्वारा मान देना कहा गया है। सबके प्रेम भरे व्यवहार से अलग होने पर एकाकी जीवन में वीरानगी तो आती ही है।

रणवगडामां साथ हूं एकली, विलखूं रात ने दिन।

जो कोई मानो तो कहे इंद्रावती, रखे कोई करो भारे कर्म॥१४॥

हे साथ जी! अब आप सबसे दूर होकर मैं विरह के सुनसान रेगिस्तान में भटक रही हूँ। प्रियतम के वियोग में दिन-रात बिलखने के अतिरिक्त मेरे पास अन्य कोई मार्ग (चारा) ही नहीं है। यदि आप मेरी एक बात मान सकें,

तो मैं इन्द्रावती, आपसे विशेष बात कहना चाहती हूँ कि अपने धाम धनी के प्रति मेरी तरह कोई अशुभ कार्य न करना।

भावार्थ— समर्पण के वृक्ष पर ही प्रेम का मधुर फल लगता है, जिसका आनन्दमय रस जीवन को धन्य-धन्य बना देता है। प्रेम की पवित्र राह में आत्म-सम्मान या स्वाभिमान के नाम पर यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि सद्गुरु महाराज जब आप बुलायेंगे तभी मैं आऊँगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार का कथन जीती हुई बाजी के हार जाने जैसा है। इसलिये श्री इन्द्रावती जी ने सुन्दरसाथ को सावचेत किया है कि उनकी तरह वे कोई भूल न करें। जब समर्पण और प्रेम के मार्ग में स्वयं का अस्तित्व ही नहीं होता, तो स्वाभिमान और आत्म-सम्मान जैसे शब्द कहाँ से आ जाते हैं?

आ वस्ती वसे रे सुंदर सोहामणी, धणी बेठा नवतनपुरी मांहेँ।
 एहज पुरी मांहेँ अमें रहूं, पण करमे न दिए मेलो क्यांहेँ॥१५॥

इस मनभावनी नवतनपुरी नगरी में लोगों की बहुत ही सुन्दर-सुन्दर बस्तियाँ बसी हुई हैं। आप इस पुरी में विराजमान हैं तथा मैं भी इसी में रह रही हूँ। किन्तु अपने अशुभ कर्मों के कारण ही मेरा आपसे मिलन नहीं हो पा रहा है।

अनेक विधे रे साथ हूं विलखती, पण मेलो न थाए एक खिण।
 ए अचरज तमे जुओ साथजी, करम तणां रे ए छे गुण॥१६॥

हे साथ जी! आप इस बात का विचार कीजिए कि अपने प्राणेश्वर के वियोग में मैं अनेक प्रकार से दिन-रात बिलख रही हूँ, किन्तु एक क्षण के लिये भी मेरा उनसे मिलन नहीं हो पा रहा है। यह कितने आश्चर्य की बात है।

अशुभ कर्मों का फल इसी प्रकार भोगना ही पड़ता है।

भावार्थ— अनेक प्रकार से बिलखने का तात्पर्य है— श्री मिहिरराज जी के द्वारा अतीत एवं वर्तमान के घटनाक्रमों का चिन्तन करके उन्हीं भावों में बिलखना।

वलीने वसेके रे वज्रलेपणा, मारा जेम करजो मा कोय।

एहज पुरी माहें अमें रहेता, रणवगडा जुओ केम होय॥१७॥

साथ जी! आप पुनः मेरे उन अमिट (अक्षम्य) अपराधों को तो देखिए। मैं आपको सावचेत करती हूँ कि भूलवश मैंने "अपने सर्वस्व, अपने आराध्य" के प्रति जिस प्रकार के अपराध किये हैं, वैसे अपराध आप स्वप्न में भी नहीं करना। जरा देखिए तो, एक ही पुरी में हम दोनों रह रहे हैं, किन्तु कैसे मेरा जीवन उस सूने रेगिस्तान की तरह हो गया है, जिसमें प्रेम की हरियाली के दर्शन कर पाना

मात्र कल्पना की वस्तु लगती है?

भावार्थ— अरब जाने से पूर्व श्री मिहिरराज जी के मन में इस बात की होड़ (प्रतिद्वन्द्विता जैसी भावना) बँध गयी थी कि जब सद्गुरु महाराज को परमधाम दिखायी देता है, तो मुझे क्यों नहीं दिखायी देता? क्या मैं परमधाम की आत्मा नहीं हूँ? परमधाम को देखने की इच्छा तो अवश्य करनी चाहिए, किन्तु सद्गुरु से होड़ बाँधकर नहीं। श्रद्धा और समर्पण से ही प्रेम का स्वर्णिम पथ तैयार होता है, जिस पर चलने वाला युगल स्वरूप और परमधाम का साक्षात्कार करता है। किरंतन १५/१ में इसी तथ्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

"पतित सिरोमन यों कहे, जो मैं किए है बज्रलेप, मेरे साहेब सो द्वेष।"

इसी प्रकार अरब से लौटने पर प्रणाम स्वीकार न किये जाने की स्थिति में श्री मिहिरराज जी से आत्म-सम्मान

एवं स्वाभिमान के नाम पर दूसरा अपराध हो गया। इसी का वर्णन इन चौपाइयों में हो रहा है।

एणे सर्वे वज्रलेपणा, दुखने दीठा रे अनेक।

हवेने वालाजी रे दया करो, तो टले मारा वज्रलेप॥१८॥

मैंने अपने इन अपराधों (गुनाहों) के कारण ही विरह के अनेक भयंकर दुःखों को देखा है। मेरे प्राणवल्लभ! आपके विरह में बिलखती हुई मुझ असहाय इन्द्रावती पर अब तो दया कीजिए। आपकी कृपा की शीतल धारा ही मेरे अक्षम्य अपराधों की कालिमा (दाग) को धो सकती है।

दयाने रखे तमे विसारो, इंद्रावती अलवी रे थाय।

एणे वचने वालोजी तेडसे, अंगना आवीने लागसे पाय॥१९॥

मेरे प्राण जीवन! अक्षरातीत! बहुत व्यथित होकर अब

मुझे यह कहना पड़ रहा है कि आप मेरे प्रति दया से पूर्णतया रहित होकर निर्दयी हो चुके हैं। तभी तो आपने मुझे भुला दिया है। इस तरह के चुभने वाले वचन तो मैं इसलिये कह रही हूँ कि सम्भवतः इन वचनों से आप पिघल जायेंगे (द्रवित हो जायेंगे) और मुझे बुला लेंगे। मैं तो उस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा कर रही हूँ कि कब आप मुझे बुलायें और मैं आकर आपके चरणों से लिपट जाऊँ।

विशेष- दया से रहित व्यक्ति निर्दयी ही कहलाता है। प्रेम एवं अपनेपन की भाषा संसार से उल्टी होती है। उसमें आदरसूचक शब्दावली का प्रयोग नहीं होता। महिमा को दर्शाने वाले आदरसूचक शब्दों का प्रयोग तो ज्ञानियों की शुष्क भाषा में ही सम्भव हो पाता है। प्रेम की रसभरी भाषा में निष्ठुर एवं निर्दयी शब्द हृदय की पीड़ा

को व्यक्त करते हैं। इसलिये इनके प्रयोग पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। षट्ऋतु ६/९ में कहा गया है— "कठणाई एवी कां करो वाला, हजी दया तमने न थाय।"

प्रकरण ॥ ३ ॥ चौपाई ॥ ५१ ॥

शीत रूत (मगसर, पोस) – राग धनाश्री

शीत (शिशिर) ऋतु (पौष, माघ)

शीत की अधिकता के कारण इसे शिशिर ऋतु भी कहते हैं। अंग्रेजी गणना में यह समय जनवरी-फरवरी का होता है। इस प्रकरण में प्रकृति के शीतल दृश्यों की शोभा का वर्णन करते हुए उलाहने के रूप में यह बात दर्शायी गयी है कि अभी भी उनके हृदय में विरह का ज्वालामुखी क्यों धधक रहा है?

शीत रूत पिउजी तम विना, मूने अति अलखामणी थाय।

वाए रे उतर केरो वावरो, ते तां मारे तरवारे घाय॥१॥

मेरे राज रसिक! आपके बिना यह शीत ऋतु मुझे बहुत ही कष्टदायी लग रही है। उत्तर दिशा में स्थित हिमालय की ओर से आने वाली अति शीतल हवाओं के झोंके जब

मेरे शरीर में लगते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे ये तलवार के भयंकर प्रहारों से मुझे मार रहे हैं।

भावार्थ— जिस प्रकार एक सौत अपने तीखे वचनों से अपनी प्रतिद्वन्द्वी स्त्री के हृदय को विदीर्ण कर देती (फाड़ देती) है, उसी प्रकार अपने प्रियतम परमात्मा के साथ अठखेलियाँ करती हुई प्रकृति अपनी शीतल हवा के झोंकों से श्री इन्द्रावती जी को मर्माहत करती हुई कहती है कि देख इन्द्रावती! तू तो अपने प्रियतम के विरह की ज्वालाओं में जली जा रही है, जबकि मैं सुहागिन (प्रकृति) अपने प्रियतम के साथ आनन्द विहार कर रही हूँ। इसी घटनाक्रम को श्री इन्द्रावती जी विलख-विलख कर अपने प्राणेश्वर से कह रही हैं कि धाम धनी! शीतल हवा का हर झोंका मुझे ताने मारते हुए गुजर जाता है, किन्तु आपको हो क्या गया है, जो मेरी गर्म-गर्म आँहों

से भी आप पिघलते नहीं हैं?

हो टाढीने रुत रे वालाजी सीतनी, टाढीने भीनी थाय रात।

एणी रुते केम विसारिए, अरधांग तमारी प्राणनाथ॥२॥

मेरे प्राणनाथ! यह शीत ऋतु रात्रि के समय तो भयानक रूप से ठण्डी है ही, दिन में भी बहुत शीतल है। मैं आपकी अर्धांगिनी हूँ। इस ऋतु में आपने मुझे क्यों भुला दिया है?

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी अपने मूल सम्बन्ध की याद दिलाते हुए यह उलाहना देती हैं कि मेरे सर्वस्व! मेरे जीवन के आधार! मेरे प्राणेश्वर! आपकी अर्धांगिनी होने के कारण मुझे आपकी प्राणेश्वरी कहलाने की शोभा प्राप्त है। ऐसी अवस्था में क्या आपको यह अधिकार है कि आप मुझे भुलायें रखें और विरह की अग्नि में तिल-तिल

करके जलाते रहें?

शीत रुते जल जोनी जामिया, तमे हजिए न ल्यो मारी सार।
जीवने काया नहीं तो मूकसे, ते तमे जोसो निरधार॥३॥

इस भयंकर शीत ऋतु में जल भी जमकर बर्फ बन गया है, किन्तु आप निष्ठुरता का प्रदर्शन करते हुए अभी भी मेरी सुधि नहीं ले रहे हैं। यदि यही स्थिति बनी रही तो मेरा जीव इस शरीर का परित्याग कर देगा। मुझे ऐसा लगता है कि आप निश्चित रूप से वही दिन देखना चाहते हैं।

भावार्थ- शीत ऋतु में बर्फ से ढका हुआ प्रकृति का मनोरम दृश्य दिखायी देता है, जबकि श्री मिहिरराज जी के हृदय में विरह का धधकता हुआ ज्वालामुखी उनकी आँखों से आँसुओं का लावा बहा रहा होता है। दया,

प्रेम, और करुणा के सागर कहे जाने वाले अक्षरातीत जब इस अवस्था में भी द्रवित नहीं होते तो श्री इन्द्रावती जी प्रश्न करती हैं कि क्या मेरे शरीर के छूटने के पश्चात् ही आपको मेरी याद आयेगी?

दुःखने दोहेला घणां भोगव्या, पण विरह दुःख में न खमाय।

जीवडो रुए निस दिन पिऊ विना, आंसूडा ते अंग न माय।।४।।

मेरे धनी! यद्यपि मैंने अपने जीवन में असहनीय दुःखों को सरलतापूर्वक सहन कर लिया है, किन्तु विरह का यह दुःख अब सहन नहीं हो पा रहा है। आपके विरह में मेरा जीव दिन-रात इतना विलाप कर रहा है कि नेत्रों से आँसुओं का प्रवाह निरन्तर बना ही रहता है।

भावार्थ— गोवर्धन भाई का धामगमन, अरब में जगह-जगह भटकना, बिहारी जी के द्वारा धन चोरी का आरोप

झेलना, एवं बालबाई के दबाव में सद्गुरु महाराज के द्वारा प्रणाम स्वीकार न किया जाना श्री मिहिरराज जी के लिये कष्टकारी रहा। इन कष्टों को श्री मिहिरराज जी ने सरलतापूर्वक सहन कर लिया, किन्तु अपने धाम धनी का वियोग उनके लिये असह्य हो गया। इस चौपाई के चौथे चरण में कथित आँसुओं का नेत्रों (अंगों) में न समाने का अभिप्राय है— नेत्रों का आँसुओं से सर्वदा भरे रहना अर्थात् नेत्रों से निरन्तर अश्रुधारा का प्रवाहित होते रहना।

जलने सीतल नेणे वही गया, हवे अगिन थई अति जोर।
 निस्वासा जेम धमण धमे, बलतो जीव करे रे बकोर॥५॥
 मेरे प्रियतम! आपके विरह में विलखते—विलखते मेरे नेत्रों का सम्पूर्ण जल बह गया है। मेरे गर्म आँसू भी

शीतल हो गये हैं। अब विरह की अग्नि इतनी प्रचण्ड हो गयी है कि आँसुओं का आना भी बन्द हो गया है। लोहार की धाँकनी की तरह विरह में केवल गर्म-गर्म तेज साँसे ही निकल रही हैं। विरह की अग्नि में जलने वाला जीव बारम्बार आपको ही पुकार रहा है।

भावार्थ- गर्म आँसुओं के रूप में विरहाग्नि की पीड़ा ही नेत्रों से व्यक्त होती है, किन्तु यह सौत शीत ऋतु उन्हें ठण्डा कर देती है, जिससे धाम धनी तक मेरी आँहें न पहुँच पायें। सामान्यतः रने से हृदय का दुःख हल्का हो जाता है, किन्तु यहाँ तो स्थिति कुछ और ही है। विरह की प्रचण्ड अग्नि ने मेरे आँसुओं को अन्दर ही अन्दर सुखा दिया है। अब मेरे नेत्रों से आँसू आने ही बन्द हो गये हैं। मेरी सूनी और पथराई आँखें केवल दीदार के लिये तरस रही हैं। न जाने कब अपने प्राणवल्लभ से मेरा

मधुर मिलन होगा?

एवी टाढी रुते रे दंतडा खडखडे, अंग चामी चरमाय।

एकने पिउजी तम विना, कई कई आवटणी थाय।।६।।

यह ऋतु इतनी ठण्डी है कि दाँत किटकिटा रहे हैं तथा शरीर के अंग-अंग की त्वचा सूख गयी है। संसार में और लोग भले ही हैं, किन्तु मेरे सर्वस्व तो आप ही हैं। आपके सम्मुख न होने से मेरे ऊपर तरह-तरह की अनेकों आपत्तियाँ आती ही रहती हैं।

भावार्थ- ऐसा लगता है कि सौत के रूप में यह शिशिर ऋतु अपनी प्रचण्डता का मुझे अहसास कराना चाहती है। यह स्वयं तो अपने पूर्ण यौवन (उफान) पर है, किन्तु मेरे शरीर की त्वचा को सुखाकर इसने कुरूप बना दिया है। आपके वियोग में अबला हो जाने का ही यह

दुष्परिणाम है कि यह ऋतु मेरी आपत्तियों पर हँसी उड़ाती है और घाव पर नमक छिड़कने की तरह मुझे विवश कर देती है कि मेरे दाँत किटकिटाते रहें तथा मैं त्राहिमाम्-त्राहिमाम् की पुकार लगाती रहूँ।

शीत रुते पत्र जेम हारव्या, जेम वसंत विना वनराय।

रंगने रूप रुत हरी लिए, पछे सूकीने भाखरिया थाय।।७।।

इस भयंकर शीत ऋतु में वृक्षों के पत्ते सूख कर गिर जाते हैं और वसन्त ऋतु के आने तक नहीं आते , जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण वन वीरान लगता है। इस ऋतु ने वृक्षों सहित मेरे शरीर के रूप-रंग को भी हर लिया है। मेरा यह शरीर सूखकर पापड़ की तरह हो गया है।

भावार्थ- इस ऋतु को अपने शक्ति प्रदर्शन की इतनी

अधिक भूख है कि इसने फूलों से लहलहाते सम्पूर्ण वन को ही सुनसान कर दिया है। आपके विरह में मेरा यह शरीर जो पापड़ की तरह सूख कर काँटा हो गया है, वन के फूलों को ही देखकर कुछ सम्बल (सहारा) सा प्राप्त करता था, किन्तु यह ऋतु तो जैसे मुझे चिढ़ा सी रही है कि देख इन्द्रावती! प्रियतम पर केवल मेरा ही अधिकार है। यदि तुमने कोई अनाधिकार चेष्टा की तो मैं तुम्हारे शरीर सहित सम्पूर्ण वन को ही तहस-नहस कर सकती हूँ।

आ रुतें अग्नी जोर बले, वाएने अग्नि टाढी वाए।

हेमने पडे रे बले सर्व वनस्पति, वलीने वसेके दाझे दाहे॥८॥

मेरे प्राणधन! मुझे ललकारती हुई ये शीतल हवायें मेरे विरह की अग्नि को और अधिक बढ़ा रही हैं। मेरी सहचरी

(सखी) सभी वनस्पतियों पर भी बर्फ पड़ चुकी है , जिससे वे सूख गयी हैं। उनकी इस दयनीय अवस्था को देखकर मेरे विरह की लपटें और तेज होती जा रही हैं।

भावार्थ— इस चौपाई में आलंकारिक रूप से वनस्पतियों को श्री इन्द्रावती जी की सखी के रूप में चित्रित किया गया है। अपने मन की पीड़ा को अपनी अन्तरंग सखी से कह देने (फलों-फूलों से सुशोभित वनों को देख लेने) पर कुछ दुःख बँट सा जाता है, किन्तु जब सखी भी स्वयं दुःखी हो, तो वह अपनी विरह व्यथा किससे कहे? ऐसी अवस्था में चुपचाप विरहाग्नि में निरन्तर जलते रहने के अतिरिक्त और कोई भी चारा नहीं रह जाता।

तेम मारा जीवने तम विना, आ रुत एणी पेरे जाय।

हवे रखे राखो खिण तम विना, हूं वली वली लागूं छूं पाय।।९।।

आप मेरे जीवन के आधार हैं। इस ऋतु का एक-एक पल आपके विरह की अग्नि में इस प्रकार तिल-तिल करके जलते हुए ही बीत रहा है। मैं बार-बार आपके चरणों में अपना शीश झुकाती हूँ। मेरे ऊपर दया कीजिए और अब एक क्षण के लिये भी मुझे अपने से अलग न कीजिए।

ए रुत वाला मूने एम थई, हजी दया तमने न थाय।

नौतनपुरी मेलो केम थासे, ज्यारे जीव निसरीने जाय॥१०॥

मेरे प्रियतम! इस प्रकार यह शीत ऋतु मेरे लिये अति कष्टकारी हो रही है, किन्तु आप तो ऐसे रूखे हो गये हैं कि मेरी इस अवस्था को देखकर भी आपको दया नहीं आती है। यदि मेरा जीव ही इस शरीर को छोड़ देगा तो इस नवतनपुरी में रहने पर भी आपसे मिलन कैसे हो

सकेगा?

मायानो मेलो घणूं दुर्लभ, नहीं आवे ते बीजी वार।

रखे जाणे माया मेलो न थाय, ते माटे करूं छूं पुकार॥११॥

मेरे प्राणेश्वर अक्षरातीत! मैं इस बात को अच्छी तरह से जानती हूँ कि इस मायावी जगत में आपका मिल पाना बहुत ही दुर्लभ है। इस तरह का अवसर दुबारा मुझे नहीं मिल पायेगा कि आप किसी मानव तन में विराजमान हों और मैं आपको रिझा सकूँ। पता नहीं, इस मायावी संसार में पुनः आपसे भेंट हो या न हो? यही कारण है कि मैं बारम्बार आपको पुकार रही हूँ।

मुं विरहणी नो विरह भाजजो, तमे छो दयावंत।

वलवलती करूं विनती, पछे आवसे ते मारो अंत॥१२॥

आप तो दया के सागर हैं। मैं विलख-विलखकर आपसे यह प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरे विरह के कष्ट को दूर कर दीजिए, अन्यथा देर करने पर मेरे शरीर का अन्त हो जाना निश्चित है।

वेल थासे जो ए वातनी, ते ता दुख करसो निरधार।

जो जीव काया मूकी चालसे, पछे करसो कायानी सार।।१३।।

इस बात में यदि देर हो जायेगी तो निश्चय ही आपको मेरे वियोग का दुःख झेलना होगा। यदि विरह में मेरा जीव इस शरीर को छोड़ देगा तो बाद में आप मेरे निर्जीव शरीर की सुधि लेकर क्या करेंगे?

जीवने निसरता घणूं सोहेलूं, कांई दुख ना उपजे लगार।

पण विमासी जो विचार करूं, तो माया मेलो केम छाडूं आधार।।१४।।

आपके विरह में इस शरीर का त्याग करना मेरे जीव के लिये बहुत ही सरल है। इस कार्य में मुझे थोड़ा भी दुःख नहीं होगा। किन्तु यदि मैं सावधानी से इस बात पर विचार करती हूँ, तो यह बात सामने आती है कि माया में आये हुए अपने धनी को रिझाये बिना कैसे छोड़ दूँ?

हवे कृपाने सागर तमे कृपा करो, जेम आवीने भीड़ुं अंग।
 मूं विरहिणीना रे वालैया, मूने तेडीने रामत करो रंग॥१५॥

मेरे धाम धनी! आप कृपा के सागर हैं। अब तो आप मेरे ऊपर कृपा कीजिए, जिससे मैं आपके पास आकर आपसे प्रेमपूर्वक आलिंगनबद्ध हो जाऊँ। विरह में तड़पती हुई मुझ आत्मा को बुलाकर मेरे साथ प्रेम और आनन्द की लीला कीजिए (व्यवहार कीजिए)।

जो तमे भीडो जीवने जीवसूं, तो भाजे मारा अंगनी दाहे।

जीव थाय मारो सकोमल, जेम वसंत मौरै वनराए॥१६॥

यदि आप अपने प्रेम भरे आलिंगन के द्वारा मुझे अपने स्वरूप में मिला लेते हैं, तो मेरे अंग-अंग की विरहाग्नि शान्त हो जायेगी। मेरा जीव आपका प्रेम पाकर आनन्द में वैसे ही खिल उठेगा, जैसे वसन्त ऋतु में वृक्षों से भरा हुआ सम्पूर्ण वन सुन्दर-सुन्दर कोपलों से सुशोभित हो जाता है।

भावार्थ- विशुद्ध प्रेम के आलिंगन में प्रेमी एवं प्रेमास्पद स्वयं को भूल जाते हैं। उन्हें केवल दूसरे का प्रेम ही याद रहता है। इसे ही जीव का जीव में मिल जाना कहते हैं। प्रेम की रसधारा पाकर ही हृदय कोमलता के शिखर पर पहुँचता है। यही जीव का कोमल होना है।

वसंत आवे वन विलम करे, मारो जीव मौरे तत्काल।

मूने जेणी खिणें वालोजी मले, हूं तेणी खिण लऊं रंग लाल॥१७॥

मेरे आराध्य! वसन्त के शुभागमन पर वृक्षों को तो कोपलों एवं फूलों से सुसज्जित होने में कुछ समय भी लग जाता है, किन्तु आपका प्रेम पाकर मेरा हृदय तत्क्षण ही खिल उठेगा। आप जिस समय मुझे प्रेम से गले लगायेंगे, मैं उसी पल प्रेम और आनन्द के अलौकिक रंग में रंग जाऊँगी।

जेम रंग लिए रे ममोलो, मेह बूठे तत्काल।

तमने मले हूं रंग एम लऊं, इंद्रावती ना आधार॥१८॥

मेरे प्राणाधार! वर्षा ऋतु में बादलों के बरसते ही जिस प्रकार बीरबहूटी (बरसाती कीड़ा) का रंग उसी क्षण लाल हो जाता है, उसी प्रकार आपसे प्रेमपूर्वक गले

मिलते ही मैं भी प्रेम के रंग में रंग जाऊँगी (डूब जाऊँगी)।

विशेष- प्रेम का रंग गुलाबी (हल्का लाल) माना गया है। इसी का दृष्टान्त देकर श्री इन्द्रावती जी की आत्मा प्रेम में डूब जाने की इच्छा करती हैं। इसी प्रकार की अभिव्यक्ति कवियों ने भी की है-

लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।

लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।

इंद्रावती आयत करे, मलवाने उलास।

एणे वचने वालोजी तेडसे, जइ करसूं वालाजी सों विलास।।१९।।

मेरे प्राणवल्लभ! मेरे मन में एकमात्र यही इच्छा है कि मैं अत्यधिक उमंग में भरकर आपसे गले मिलूँ। मुझे विश्वास है कि आप मेरी इस बात से पिघल जायेंगे और मुझे

अवश्य बुलारेंगे। आपके पास आकर मैं आपके हृदय से प्रवाहित होने वाली आनन्द की सरिता में स्नान करूँगी अर्थात् अत्यधिक आनन्दित हो जाऊँगी।

प्रकरण ॥ ४ ॥ चौपाई ॥ ७० ॥

रूत वसंतनी (फागुन, चैत) – राग वसंत

वसन्त ऋतु (फाल्गुन-चैत्र)

इस ऋतु में न तो अधिक शीत होती है और न अधिक गर्मी। अत्यधिक सुखदायी इस ऋतु को ऋतुराज भी कहते हैं। अंग्रेजी गणना के अनुसार यह ऋतु मार्च-अप्रैल में आती है, किन्तु इसका प्रारम्भ १४ फरवरी से ही हो जाता है। शीत के समापन एवं ग्रीष्म के प्रारम्भ के रूप में इसे जाना जाता है। प्रेमियों के लिये जहाँ यह ऋतु सर्वोत्तम मानी जाती है, वहीं विरहणियों के लिये बहुत कष्टदायी भी, क्योंकि उन्हें अपने प्रियतम का प्रेम पाने के लिये तड़पना पड़ता है। इन्हीं भावों में श्री इन्द्रावती जी के श्रीमुख से अपने प्रियतम अक्षरातीत के लिये विरह के जो स्वर फूटे हैं, वे इस प्रकार हैं—

रुतडी आवी रे मारा वाला, वसंत रुत रलियामणी।

तम विना मारा धणी धामना, लागे अलखामणी॥१॥

मेरे धाम धनी! मन को मुग्ध करने वाली अति सुन्दर वसन्त ऋतु का आगमन हो चुका है, किन्तु मेरे लिये आपके बिना यह मनोहर ऋतु भी बहुत ही पीड़ादायक लग रही है।

भावार्थ— प्रियतमा के लिये उसका प्रियतम ही सर्वस्व होता है। प्रियतम के वियोग में सारे ब्रह्माण्ड का वैभव भी उसे मिट्टी की तरह निरर्थक प्रतीत होता है।

रतन जड़ित जो मन्दिर, सो उठ उठ खाने धाय।

कलस हि. ५/८

का कथन यही सिद्ध करता है। यदि राम के बिना सीता को अयोध्या या सोने की लंका का वैभव कष्टकारी प्रतीत होता है, तो प्रियतम के वियोग में परमधाम की ब्रह्मात्मा

श्री इन्द्रावती जी को वसन्त का सुख भला कैसे मोह में डाल सकता है?

तमे पडदा पाछा कीधां पछी, वली आवी ते आ वसंत।

ते पछी तमसूं रमवानी, लागी छे खरी मूने खंत॥२॥

मेरे प्राणेश्वर! यह वही वसन्त है, जब अरब से लौटने पर आपने अपने मुख पर लेटे-लेटे चादर का आवरण डाल लिया था अर्थात् मेरा प्रणाम स्वीकार नहीं किया था। यह मेरा दुर्भाग्य था। इस घटना को बीते हुए लगभग एक वर्ष हो चुका है। अब पुनः उसी ऋतुराज का आगमन हो गया है। इस एक वर्ष के अन्तराल में आपके प्रेम का आनन्द लेने के लिये मेरे हृदय में प्रबल इच्छा बनी हुई है।

भावार्थ— "रमण" शब्द का तात्पर्य प्रेम के आनन्द में

विचरण करना है। श्री इन्द्रावती जी का अपने धाम धनी की सान्निध्यता में रहकर उनके आत्मिक प्रेम में डूबे रहना ही रमण करना है।

हवे ततखिण तेडजो मारा वाला, आ रुत एकला न जाय।
धणी विना कामनी घणूं कलपे, रोता ते वाणू वाय।।३।।

मेरे आनन्द! मेरे सर्वस्व! मेरे जीवन! मेरे प्राणधन! मुझे इसी क्षण अपने पास बुला लीजिए। आपके बिना इस ऋतु में अब एक पल भी नहीं रहा जा रहा है। आपके वियोग में मुझे इतना अधिक रोना पड़ता है कि रोते-रोते ही सारी रात बीत जाती है और भीगी पलकों से ही प्रातः का अहसास होता है।

दिन दोहेला जाय घणूं मूने, वली वसेके वसंत।

ते तमे जाणो छो मारा वाला, जे विध जीव ने वहंत।।४।।

मेरे प्रियतम! एक वर्ष के पश्चात् पुनः आने वाले विशेष रूप से इस वसन्त में मेरे दिन बहुत ही कठिनाई से बीत रहे हैं। विरह की पीड़ा को मेरा जीव जिस प्रकार से सहन कर रहा है, उसे आप अच्छी तरह से जानते हैं।

भावार्थ— सद्गुरु महाराज के द्वारा प्रणाम स्वीकार न किये जाने की घटना श्री मिहिरराज जी को हमेशा ही सालती (दुःखी करती) रहती है। यह घटना वसन्त ऋतु में घटित हुई थी, ऐसा दूसरे चरण से स्पष्ट होता है। श्री मिहिरराज की हार्दिक पीड़ा का क्या कारण है, इसका संकेत तीसरे एवं चौथे चरण में कर दिया गया है।

रुत मांहें रुत वसंत घणूं रूडी, जेमां मौरै वनराय।

विध विधना रंग लेरे वेलडियो, वन तणे कंठड़े वलाय।।५।।

ऋतुओं में ऋतुराज के नाम से प्रसिद्ध यह वसन्त ऋतु बहुत ही सुन्दर है, जिसमें सभी वनस्पतियों में नयी – नयी कोपलें फूटती हैं। अनेक सुन्दर रंगों वाली लतायें वृक्षों से आलिंगनबद्ध होकर लिपटी रहती हैं।

एणी रुते एकलडी मूने, केम मूको छो प्राणनाथ।

जीव सकोमल कूपल मेले, रमवा स्यामलियाने साथ।।६।।

मेरे प्राणनाथ! ऐसी मनोहर ऋतु में आपने मुझे अकेले क्यों छोड़ रखा है? आपके साथ प्रेममयी क्रीड़ा करने से मेरे जीव रूपी लता में नयी-नयी कोपलें खिल जायेंगी।

भावार्थ– उपरोक्त दोनों चौपाइयों में आलंकारिक भाषा में विरह-प्रेम के भावों को दर्शाया गया है। श्री इन्द्रावती

जी की आत्मा कहती हैं कि मेरे धनी! प्रेममयी कही जाने वाली इस वसन्त ऋतु में विरह ने मेरा जीवन सूना कर दिया है। यदि स्थावर लता वृक्ष से लिपटकर प्रेम का रसपान कर सकती है, तो किस अपराध के कारण आपने मेरा त्याग किया है? क्या मुझे आपका प्रेम पाने का अधिकार नहीं है? यदि आप मेरी आत्मा में अपने प्रेम की कुछ बूँदें डाल देते हैं, तो मेरा जीवन भी नयी-नयी कोपलों से सुसज्जित बेल (लता) की तरह आनन्द की सुगन्धि से भर जायेगा।

अमृत वा वाए वसंतनो, लेहेरो लिए वनराय।

ए रुत देखी जीवन विना, ते मारे जीवे न खमाय।।७।।

मेरे जीवन के आधार! वसन्त ऋतु में अमृत के समान जीवनदायिनी हवा बहती है, जिसके झोंकों से वृक्ष झूमते

रहते हैं। ऐसी आनन्दमयी ऋतु में आपका वियोग सह पाना मेरे जीव के लिये सम्भव नहीं लग रहा है।

भावार्थ— हवा के झोंकों से झूमते हुए वृक्षों को देखकर श्री इन्द्रावती जी का करुण क्रन्दन (विरह में रोना) और बढ़ जाता है। वे मन ही मन सोचती हैं— काश! प्रियतम के प्रेम की हवा मुझे भी मिल जाती, तो मुझे इस प्रकार विरह के आँसुओं में घुट-घुटकर नहीं जीना पड़ता। ये वृक्ष कितने सौभाग्यशाली हैं, जो आनन्द में झूम रहे हैं।

हवे केही विध करूं रे वाला, तमे कां थया मोसूं एम।

मूने मेली एकलडी, तमे बेससो करारे केम॥८॥

मेरे धाम धनी! अब आप ही बताइये कि मैं क्या करूं? मेरे प्रति आपका व्यवहार इस प्रकार रूखा क्यों हो गया है? भले ही आपने मेरा परित्याग क्यों न कर दिया हो,

किन्तु यह याद रखिए कि मुझे अकेली छोड़कर आप भी शान्ति से नहीं बैठ सकेंगे।

जो अनेक अवगुण होय मारा, तोहे तमे लेसो सार।

अमे कलपतां तमे दुखासो, ते नेहेचे जाणो निरधार।।९।।

आप निश्चित रूप से यह बात जान लीजिए कि भले ही मेरे अन्दर अनेकों अवगुण क्यों न हों, किन्तु आपको मेरी सुधि लेनी ही पड़ेगी। मैं यह बात दावे से कहती हूँ कि मुझे दुःखी देखकर आप भी अवश्य दुःखी होंगे।

भावार्थ— यद्यपि अक्षरातीत को दुःख के बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता, किन्तु प्रेम की अभिव्यक्ति इन्हीं भावों में होती है। आन्तरिक रूप से प्रेमी और प्रेमास्पद (आशिक और माशूक) एक ही स्वरूप हैं, इसलिये एक के दुःखी होने पर दूसरे का दुःखी होना स्वाभाविक है।

अक्षरातीत का आवेश श्यामा जी की आत्मा के धाम हृदय में अवश्य विराजमान है, किन्तु श्री देवचन्द्र जी का जीव सुख-दुःख से रहित नहीं है, क्योंकि उसने पञ्चभूतात्मक तन धारण किया है। यह बात आगे की ११वीं चौपाई में दर्शायी गयी है - "आकार तमारो अम समोजी, दुःख सुख देखे देह।।"

में मारा करम भोगवतां, दीठां ते दुख अति घणां।

पण मारा दुख देखी तमे दुखाणा, मूने ते दुख साले तम तणां।।१०।।

मैंने अपने अशुभ कर्मों के फलस्वरूप अत्यधिक व्यथित करने वाले विरह के दुःखों को भोगा है, किन्तु मुझे दुःखी देखकर आप भी दुःखी होते हैं। यह बात मुझे बहुत पीड़ादायक लग रही है।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी की दृष्टि में सद्गुरु द्वारा

प्रणाम स्वीकार न किये जाने पर आत्म-सम्मान की भावना से "बिना बुलाये न आने का निर्णय करना" ही अशुभ कार्य है, जिसके कारण उन्हें चार वर्षों का विरह झेलना पड़ा। प्रेम की यही तो माधुर्यता है, जिसमें प्रेमी और प्रेमास्पद अलग रहते हुए भी अपने दुःखों से नहीं, बल्कि दूसरे के दुःखों से अधिक दुःखी होते हैं।

साथ माहें आवी मारा वाला, अंतराय कीधी मोसूं एह।

आकार तमारो अम समोजी, दुख सुख देखे देह।।११।।

मेरे श्री राज! स्वयं सुन्दरसाथ के मध्य रहते हुए भी एकमात्र मुझको ही आपने विरह दिखाया। आपका भी शरीर हमारे जैसा ही पञ्चभौतिक है, जिसके कारण शरीर में स्थित जीव को सुख-दुःख दोनों ही देखने पड़ते हैं।

भावार्थ- निर्जीव शरीर सुख-दुःख का द्रष्टा या भोक्ता

नहीं होता। चैतन्य जीव ही अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, तथा अहंकार), इन्द्रियों, तथा शरीर के माध्यम से सुख-दुःख का भोग या अनुभव करता है।

अंतरगत आवी मारा वाला, बेठा छो आकार मांहेँ।

आकार देह धरयुं माया नूं, ते माटे कोणे न ओलखाए॥१२॥

मेरे प्राणवल्लभ! हम सुन्दरसाथ के मध्य आपने भी माया का ही पञ्चभौतिक तन (श्री देवचन्द्र जी का) धारण किया है। इसलिये भ्रमित होकर कोई भी सुन्दरसाथ आपके वास्तविक स्वरूप की पहचान नहीं कर पा रहा है।

भावार्थ- सबका बाह्य रूप एक समान पञ्चभौतिक ही होता है। इसलिये इस भ्रमात्मक जगत में बिना परब्रह्म की कृपा के अपनी संशयात्मक बुद्धि से धनी के स्वरूप

को पहचान पाना कदापि सम्भव नहीं है। प्रियतम परब्रह्म की कृपा की छत्रछाया में अन्तर्दृष्टि के खुलने पर ही श्री राज जी की पहचान हो सकती है, अन्यथा नहीं।

ए आकार धरी अम मांहेँ, बेठा छो अंतरीख।

पण केम छाना रहो तमे अम थी, अमे तमारा सरीख॥१३॥

मेरे प्रियतम! आपने श्री देवचन्द्र जी का पञ्चभौतिक तन धारण किया है और हम सबके मध्य छिपकर (गोपनीय रूप से) विराजमान हैं, किन्तु यह तो बताइये कि जब मैं आपकी अर्धांगिनी हूँ, तो मैं भी आपके ही समकक्ष हूँ। ऐसी अवस्था में आप मुझसे छिपकर कैसे रह सकते हैं?

भावार्थ— सामान्यतः जीवसृष्टि की अन्तर्दृष्टि न होने से वह अपने चर्म चक्षुओं से ही देखकर बुद्धि के आंकलन के आधार पर धाम धनी के स्वरूप को पहचानने का प्रयास

करती है। यही कारण है कि श्री देवचन्द्र जी तथा श्री मिहिरराज जी के अन्दर विराजमान होकर लीला करने वाले अक्षरातीत को यथार्थ रूप से मात्र ब्रह्मसृष्टि एवं ईश्वरी सृष्टि ने ही पहचाना। जीवसृष्टि तो मात्र उनके अवगुणों को ही देखती रह गयी। इस सम्बन्ध में बीतक साहिब में महाराजा छत्रशाल जी का कथन है—

श्री ठकुरानी जी साथ संग ले, पधारे मेरे घर।

धनी बिना तुम्हें और देखे, सो नहीं मिसल मातबर॥

श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान अक्षरातीत के स्वरूप की पहचान न कर सकने वाले सुन्दरसाथ आज भी तरह-तरह के कुतर्क प्रस्तुत करते हैं। कभी तो हुक्म और इल्म के खेल के नाम पर यह कहते हैं कि वहाँ से न तो कोई आया है और न कोई जायेगा। यह सत्य है

कि नूरी तन से न तो इस नश्वर जगत में कोई आया है और न इस तन से वहाँ कोई जायेगा, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि ब्रह्मात्मायें अपनी सुरता (आत्मा) रूप में आयी हैं तथा अक्षरातीत अपने आवेश स्वरूप से। यदि श्री राज जी आये ही नहीं हैं, तो ब्रह्मलीला (व्रज, रास, और जागनी) किसने की है? ऐसी अवस्था में इन चौपाइयों का क्या अर्थ होगा?

कृपा निध सुन्दरवर स्यामा, भले भले सुन्दरवर स्यामा।

उपज्यो सुख संसार में, आए धनी श्री धाम॥

प्रगटे पूरण ब्रह्म सकल में, ब्रह्मसृष्ट सिरदार।

ईश्वरी सृष्टि और जीव की, सब आए करो दीदार॥

किरन्तन ५७/१, २

सुनियो दुनियां आखिरी, भाग बड़े हैं तुम।

जो कबूं कानों ना सुनी, सो करो दीदार खसम॥

कई देव दानव हो गए, कई तीर्थकर अवतार।

किन सुपने ना श्रवनों, सो इत मिल्या नर नार।।

सनंध ३३/१,३

तुम ही उतर आए अर्स से, इत तुम हीं कियो मिलाप।

तुम ही दई सुध अर्स की, ज्यों अर्स में हो आप।।

श्रृंगार २३/३१

इन चौपाइयों को पढ़कर भी यह कहना कि "मात्र मूल मिलावा में विराजमान श्री राज जी ही हमारे प्राणनाथ हैं, महामति जी के धाम हृदय में नहीं", सत्य को ढकने का असफल प्रयास ही है। इस तरह की मान्यता रखना स्वयं को दुर्भाग्यशाली सिद्ध करना है।

हवे में तमने दीठा जुगते, ओलखिया आधार।

ते माटे तमे तेडजो ततखिण, मलो तो थाय करार॥१४॥

मेरे प्राणाधार! अब मैंने आपको अपनी अन्तर्दृष्टि से अच्छी प्रकार देखकर आपकी यथार्थ पहचान कर ली है। इसलिये आपकी भलाई इसी में है कि आप इसी क्षण मुझे बुलाकर गले लगा लीजिए, जिससे मेरे हृदय में शान्ति हो जाये।

हुतासनी नो ओछव अति रूडो, आवी रमूं अबीर गुलाल।

चोवा चंदन अनेक अरगजा, हूं छांटी करूं वालाजीने लाल॥१५॥

आज अत्याधिक मनमोहक होली का त्योहार है। मेरी इच्छा है कि मैं आपके पास आ जाऊँ, तथा अबीर और गुलाल से आपके साथ होली खेलूँ। मैं आपके ऊपर चोवा, चन्दन, तथा अनेक प्रकार के सुगन्धित अरगजे

को छिड़ककर आपको लाल रंग में सराबोर कर दूँगी।

भावार्थ- श्री मिहिरराज जी के मन में अपने धाम धनी के साथ प्रति वर्ष होली खेलने की मधुर स्मृतियाँ बनी हुई हैं। विरह की अवस्था में वे स्मृतियाँ सजीव हो उठती हैं, जिनकी पुनरावृत्ति इन तीनों (१५, १६, और १७) चौपाइयों में है।

चोवा एक सुगन्धित द्रव्य पदार्थ है, जो चन्दन और देवदार के बुरादे तथा मरसे के फूलों को मिलाकर और गर्म करके टपकाने से बनता है। अरगजा केशर, चन्दन, और कपूर के मिश्रण से बना हुआ सुगन्धित द्रव्य है, जो शरीर पर लगाया जाता है।

सुंदरसाथ मलीने रमिए, वालाजीसूं रंग अपार।

लोपी लाज रमूं हूं तमसूं, इंद्रावतीना आधार॥१६॥

हे सुन्दरसाथ जी! आप सभी अपने धाम धनी के साथ अनन्त आनन्द में भरकर होली खेलिये। मेरे जीवन के आधार! मैं तो लोक-लाज छोड़कर आपके साथ अति प्रेमपूर्वक होली खेलूँगी।

हवे वेहेली ते तेडो मारा वाला, रमवा हरख न माय।

सुंदर धणी मारा रे तमने, हूं आवीने जीतूं तेणे ताय॥१७॥

मेरे अति सुन्दर श्री राज! आपके साथ होली खेलने में मुझे अपार आनन्द मिलेगा। इसलिए मुझे शीघ्रातिशीघ्र अपने पास बुला लीजिए। मैं आते ही प्रेम भरी होली खेलने में आपको जीत लूँगी।

इंद्रावती अरधांग तमारी, कलपे विना धणी धाम।

एणे वचने ततखिण मूने तेडसे, मलीने भाजीस मारी हांम॥१८॥

मेरे धाम धनी! मैं इन्द्रावती आपकी अर्धांगिनी हूँ। मैं आपके विरह में विलख रही हूँ। मेरे इन वचनों की लाज रखकर यदि आप मुझे अपने पास बुला लेते हैं, तो मैं आपसे गले मिलकर अपनी सभी प्रेममयी इच्छाओं को पूर्ण कर लूँगी।

प्रकरण ॥ ५ ॥ चौपाई ॥ ८८ ॥

रुत ग्रीखमनी

गरमी रुत (वैसाख, जेठ) – राग काफी धमार

ग्रीष्म ऋतु (वैशाख, ज्येष्ठ)

वसन्त ऋतु के पश्चात् इस ऋतु का प्रारम्भ होता है। अंग्रेजी गणना के अनुसार इसका समय मई-जून है। इस ऋतु में प्रकृति के मनोहर दृश्यों को देखकर श्री इन्द्रावती जी की विरहाग्नि और अधिक बढ़ जाती है, जिसे वे इन शब्दों में व्यक्त करती हैं-

वालाजी विना रुत ग्रीखम हो॥ टेक ॥

रुत ग्रीखम वालाजी विना रे, घणूं दोहेली जाय।

पिउजी विना हूं एकली, खिण वरसां सो थाए॥१॥

मेरे प्राण प्रियतम! आपके विरह में यह ग्रीष्म ऋतु बहुत ही कठिनाई से व्यतीत हो पा रही है। आपकी

अनुपस्थिति में मैं स्वयं को अकेला अनुभव करती हूँ।
विरह में मेरा एक-एक क्षण भी वर्ष के समान लम्बा
प्रतीत होता है।

ग्रीखमनी रुत आवी रे वाला, वेलडियो सोहे वनराय।

फूल फल दीसे रे अति उत्तम, एणी रुते वन सोहाय॥२॥

धाम धनी! मनमोहक ग्रीष्म ऋतु आ गयी है। वृक्षों से
लिपटी हुई लतायें शोभायमान हो रही हैं। उन पर अति
सुन्दर-सुन्दर फल-फूल दिखायी दे रहे हैं। इस प्रकार
इस ऋतु में वनों की अनुपम शोभा दृष्टिगोचर हो रही है।

घाटी छाह्या सोहे वननी, फूलडे रंग प्रेमल अपार।

एणी रुते मारा वालैया, मूने तेडीने रमजो आधार॥३॥

मेरे प्राणाधार! वनों में वृक्षों की सघन छाया फैली हुई

है। सुगन्धि से भरपूर अनन्त प्रकार के फूलों में सुन्दर – सुन्दर रंग दिखायी दे रहे हैं। इस मुग्धकारी ऋतु में आप मुझे अपने पास बुला लीजिए और मेरे साथ प्रेममयी क्रीड़ा (व्यवहार) कीजिए।

भावार्थ– ग्रीष्म ऋतु में प्रकृति की सुन्दरता के दृष्टान्त से श्री इन्द्रावती जी धाम धनी से उलाहने के रूप में यह बात कहना चाहती है कि क्या मेरा जीवन यूं ही सूना बना रहेगा? क्या मेरे जीवन में प्रेम के फूल नहीं खिलेंगे? इस चौपाई के चौथे चरण में धनी के साथ खेलने का तात्पर्य उनके साथ प्रेममयी आत्मिक व्यवहार से है, क्योंकि श्री देवचन्द्र जी की उम्र उस समय लगभग ७० वर्ष की थी। इस उम्र में बच्चों और किशोरों की तरह कोई क्रीड़ा नहीं हो सकती।

रमवाने जीव तरसे मारो, रूडी रमवानी आ रुत।

खंत खरी मलवानी तमसूं, लागी रही छे मारे चित॥४॥

मेरा जीव आपसे प्रेम करने के लिये तरस रहा है। प्रेममयी लीला के लिये यह ऋतु बहुत ही उपयुक्त (अच्छी) है। मेरे हृदय की यह सच्ची चाहना है कि आप से शीघ्रातिशीघ्र मिलन हो जाये।

कोयलडी टहुंकार करे रे, सुडला करे रे कलोल।

एणी रुते हूं एकलडी, रोई नेंणा करूं रंग चोल॥५॥

इस मनोहर ऋतु में कोयल प्रसन्न मन से कूक रही है तथा तोते आनन्द विभोर होकर तरह-तरह की क्रीड़ाये कर रहे हैं, किन्तु मैं ही ऐसी मन्दभाग्या हूँ, जो आपके बिना अकेली ही अपना समय काट रही हूँ तथा रो-रोकर अपनी आँखों को लाल कर रही हूँ।

भावार्थ— कोयल की उमंगभरी मधुर कूक तथा तोते की चपल क्रीड़ाओं को देखकर प्रियतमा (विरहिणी) का विरह और अधिक बढ़ जाता है। वह अपने भाग्य को कोसते हुए यही कहती है कि काश! मेरा प्रियतम यदि मेरे पास होता, तो मैं भी इसी तरह आनन्दमग्न होती, किन्तु इस समय तो विरह में आँसू बहाने के अतिरिक्त मेरे पास और कोई काम ही नहीं है।

वांदर मोर क्रीडे वनमां, आनंद देखी वनराय।

एणे समे वालाजी विना, विरहसूं कालजडूं रे कपाय।।६।।

मेरे आराध्य! सम्पूर्ण वन में आनन्द का ही साम्राज्य देखकर बन्दर तथा मोर तरह-तरह की क्रीड़ाएँ कर रहे हैं। ऐसे उल्लास भरे समय में आपके विरह में मुझे ऐसा लग रहा कि मेरा कलेजा (हृदय) ही फटा जाएगा।

भावार्थ- दूसरों को प्रेम में मग्न हुआ देखकर प्रत्येक विरहिणी का विरह और प्रचण्ड हो जाता है, क्योंकि उसके द्वारा प्रेम की इच्छा तो निरन्तर बढ़ती जाती है, किन्तु प्रियतम सम्मुख नहीं होता। अत्यधिक उमंग में नाचते हुए मोर को देखकर भला इन्द्रावती जी अपना धैर्य कैसे रख सकती हैं? उस समय तो उनके मुख से यही निकलेगा कि प्राणेश्वर! शीघ्र मेरे सामने आ जाओ। यदि आपने जरा भी देर कर दी, तो मेरे हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।

भमरा मदया करे रे गुंजार, लई फूलडे बहेकार।

एणी रुते धणी धाम विना, घडी एक ते केमे न जाय आधार॥७॥

मेरे जीवन के आधार! सुगन्धित फूलों पर मँडराते हुए मद से भरे ये भौरै गुँजार कर रहे हैं। अब आप ही बताइए

कि इस मनोहर ऋतु में आपके बिना एक घड़ी (साढ़े बाईस मिनट) भी कैसे व्यतीत की जाये?

भावार्थ— यदि तुच्छ भौरों को हर फूल पर मँडराने एवं उनका पराग चूसने का अधिकार है, तो श्री इन्द्रावती जी के हृदय रूपी भौरों को अपने प्राणेश्वर के दीदार (दर्शन) एवं उनके प्रेम रस का पान करने का अधिकार क्यों नहीं है? क्या अक्षरातीत का यही न्याय है? क्या उसकी महिमा एक भौरों से भी कम है, जो उसे इतना असहाय बना दिया गया है?

एणी रुते अमने नव तेडो, तो जीव घणुं दुखी थाय।

दिन दोहेला घणुए निगमूं, पण रैणी ते केमे न जाय।।८।।

मेरे धनी! इस मनोहारिणी ग्रीष्म ऋतु में यदि आप मुझे नहीं बुलाते हैं, तो मेरा जीव बहुत ही दुःखी हो जायेगा।

आपके विरह में मेरा दिन तो बहुत कठिनता से किसी प्रकार बीत भी जाता है, किन्तु रात्रि को बिता पाना किसी भी प्रकार से असम्भव सा लगता है।

भावार्थ— दिन में कोलाहल रहता है तथा कई प्रकार के लोगों से मिलने एवं मन के अनेक कार्यों में लग जाने से विरह उतना उग्र नहीं हो पाता, जितना कि रात्रि में। रात्रि का घोर सूनापन एकमात्र प्रियतम के प्रति ही मन को केन्द्रित कर देता है, जिससे रात्रि को समय व्यतीत कर पाना बहुत ही कठिन (असम्भव सा) होता है।

कठणाई एवी कां करो वाला, हजी दया तमने न थाय।

बीजा दुख अनेक खमूं, पण धणीनो विरह न खमाय॥९॥

मेरे धनी! आप इस प्रकार का कठोर व्यवहार क्यों कर रहे हो? आपको अभी भी मेरे ऊपर दया नहीं आती? मैं

अनेक सांसारिक कष्टों को तो सरलता से सहन कर सकती हूँ, किन्तु आपका यह विरह सहा नहीं जा रहा है।

कलकले जीवने कांपे काया, करे निस्वासा निस दिन।

नैणे जल आवे निझरणां, कोई अखूट थया उतपन॥१०॥

आपके विरह में मेरा जीव विलख रहा है। मेरा यह जर्जर शरीर थर-थर काँप रहा है। दिन-रात विरह की ठण्डी आँहें निकल रही हैं। झरने की तरह मेरे नेत्रों से इस प्रकार जल बह रहा है, जैसे उसका प्रवाह कभी बन्द ही नहीं होगा।

भावार्थ- आँहें भरने का तात्पर्य है - फुसफुसाहट के स्वर में विरह की पीड़ा को आह, हाय, आदि शब्दों के रूप में प्रकट करना। इस अवस्था में साँसें कुछ तेज हो जाती हैं और प्रियतम के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात

में मन नहीं लगता। ऐसा लगता है जैसे मस्तिष्क संसार की ओर से पूर्णतया निष्क्रिय हो गया है।

एक निस्वाने जीव निसरे, पण दुख खमूं छूं ते जुए विचार।

ते विनती करूं रे वाला, सुणो इंद्रावतीना आधार।।११।।

मेरे प्राणों के आधार! मेरे सर्वस्व! मैं विरह की एक ही आह में अपने शरीर को निर्जीव कर सकती हूँ, किन्तु कुछ सोचकर ही विरह के इस असह्य कष्ट को सहन कर रही हूँ। इसलिये मैं आपसे यह प्रार्थना करती हूँ कि मेरी यह बात सुनिये।

देखे जीव दुख घणूं दुर्लभ, मेलो धणीनो आवार।

श्री धाम मधे मेलो सदीवे, पण दुर्लभ मेलो संसार।।१२।।

आपके विरह में मेरे जीव ने बहुत अधिक दुःख का

अनुभव किया है। आप इस जागनी लीला में मुझे प्रत्यक्ष रूप में (श्री देवचन्द्र जी के तन में) मिले हैं। परमधाम में तो पल-पल ही आपकी सान्निध्यता रहती है, किन्तु इस मायावी जगत में आपका मिलना दुर्लभ है।

भावार्थ- शाब्दिक ज्ञान के शुष्क वन में विचरण करने वाले उन सुन्दरसाथ को इस चौपाई से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जो यह मानते हैं कि अक्षरातीत इस नश्वर जगत में आये ही नहीं हैं। यदि श्री राज जी ने श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला नहीं की, तो श्री मिहिरराज जी ने अपने प्रियतम का विरह किस रूप में और किसको लक्ष्य करके किया? क्या मिहिरराज जी को यह समझ ही नहीं थी कि श्री देवचन्द्र जी मात्र एक मनुष्य हैं या उनके अन्दर स्वयं धाम धनी ही लीला कर रहे हैं? लौकिक गुरु तो पिता के

समान होता है। उसे अपनी आत्मा का प्रियतम कहकर सम्बोधित करने की क्या आवश्यकता है?

नौतनपुरीमां धणी मलवाने, जीव न मूके काया।

धणीनो विछोडो घेर खिण नहीं, विछोडो मेलो मांहें माया॥१३॥

मेरे प्राणेश्वर! मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि नवतनपुरी में आप मुझे अवश्य मिलेंगे। इसी आशा के साथ मैंने अपने शरीर को अभी तक जीवित रखा है। परमधाम में तो एक क्षण के लिये भी आपसे वियोग नहीं हो सकता, किन्तु इस संसार में ही यह बुरा दिन देखने को मिल रहा है कि आप नवतनपुरी में विराजमान होकर लीला कर रहे हैं और मैं आपके वियोग में घुट-घुटकर जी रही हूँ।

आ मेलो दुर्लभ ते माटे, नहीं आवे बीजी वार।

ते माटे जीव कलपे मारो, नौतनपुरी मलवा आधार॥१४॥

इसलिये इस नश्वर जगत् में आपको प्रत्यक्ष पाने का सुख दुर्लभ होता है। यह अवसर दुबारा किसी को भी प्राप्त होने वाला नहीं है, अर्थात् पुनः दूसरी बार न तो जागनी ब्रह्माण्ड बनेगा और न धाम धनी इस प्रकार किसी मानव तन में विराजमान होकर लीला करेंगे। मेरे प्राणाधार अक्षरातीत! यही कारण है कि मेरा जीव नवतनपुरी में आपसे मिलने के लिये विलख रहा है।

हवे न थाय मेलो श्री देवचंदजी सों, जो कीजे अनेक उपाय।

घरे मेलो अभंग छे, पण नौतनपुरी ए न थाय॥१५॥

अब तक की परिस्थितियों से तो ऐसा लग रहा है कि भले ही अनेक प्रयत्न क्यों न किये जायें, किन्तु सद्गुरु

धनी श्री देवचन्द्र जी से मिल पाना बहुत ही कठिन प्रतीत हो रहा है। यह कैसी विडम्बना (हँसी) है कि परमधाम में तो कभी पल भर के लिये भी वियोग नहीं होता, जबकि नवतनपुरी में धनी के रहने पर भी भेंट नहीं हो पा रही है।

भावार्थ— बिहारी जी के हृदय की कटु भावना तथा बालबाई आदि के उनके पक्ष में खड़े होने से श्री मिहिरराज जी को ऐसा लग रहा था कि जैसे सद्गुरु महाराज से मिल पाना बहुत ही कठिन (असम्भव) हो सकता है।

सुंदर श्रीमुख वचन सांभरे, त्यारे जीवने कालजे लागे घाय।
पण चूकी अवसर जो हूं पेहेली, तो न आवे हाथ ते दाय॥१६॥
मेरे धाम धनी! जब आपके श्रीमुख से सुने हुए मनमोहक वचनों की याद आती है, तो मेरे हृदय में चोट लगती है,

कि वे दिन कितने मधुर थे, जब आपके चरणों में बैठकर मैं चर्चा का रसपान किया करती थी। अपने स्वाभिमान के आगोश में मैंने सेवा करके आपको रिझाने का सुनहरा अवसर खो दिया। न जाने आपको रिझाने का सुअवसर पुनः प्राप्त होगा या नहीं?

हवे कलकलीने कहूं छूं रे वाला, मूने तेडजो चरणे।

तेहेने छेह केम दीजिए रे वाला, जे आवी ऊभी सरणे॥१७॥

मेरे प्राण प्रियतम! अब मैं विलख-विलखकर आपसे कह रही हूँ कि मुझे शीघ्र ही अपने चरणों में बुला लीजिए। जो अपना सर्वस्व समर्पित करके एकमात्र आपके ही शरणागत हो, उसे भी आप विरह के कष्ट में क्यों तड़पा रहे हैं?

हवे विरह वीटी विनता कहे, रखे खिण लावो वार।

अमने आवी तेडी जाओ, जेम लऊं लाभ माहें संसार॥१८॥

विरह के सागर में आकण्ठ डूबी हुई आपकी अंगना, मैं इन्द्रावती आपसे आग्रह करती हूँ कि अब एक क्षण की भी देरी न कीजिए। अपना पतिव्रत धर्म (धनीपना) निभाते हुए आप स्वयं आकर मुझे ले जाइए, जिससे मैं भी इस जागनी ब्रह्माण्ड में आने का लाभ ले सकूँ।

आ मायानो मेलो दुर्लभ, जुओने विचारी मन।

लऊं लाभ मलीने तमने, जेम सहु कोई कहे धंन धंन॥१९॥

मैंने अपने मन में विचार करके यह निश्चय किया कि इस मायावी जगत में साक्षात् अक्षरातीत को एक मानव तन में पा लेना बहुत ही कठिन (असम्भव सा) है। इसलिये आपसे मिलकर अपने आत्मिक प्रेम का मैं लाभ लेना

चाहती हूँ, जिससे प्रत्येक सुन्दरसाथ मुझे धन्य-धन्य
कहे।

अणजाण्युं धन गयूं रे अनंत, पण जाण्युं ते धन केम जाए।
जे निध गई अचेत थकी, हूं दाझूं ते तेणी दाहे॥२०॥

जब तक मैं धनी के स्वरूप के प्रति अनजान थी, तब
तक तो मैं अपने अपार आत्मिक सुख को खोती रही।
अब जब मुझे धाम धनी के स्वरूप की पहचान हो गयी
है, तो मैं अपने आत्मिक सुख (धन) को क्यों खोऊँ?
माया की निद्रा में जो सम्पदा (आत्मिक धन) मैंने खो
दी, उसके प्रायश्चित् की अग्नि में मैं अभी तक जल रही
हूँ।

इंद्रावती कहे आयत करी, एक वार तेडो अमने।

जेम उलट करूं अति घणो, आवीने जीतूं तमने॥२१॥

मेरे राज रसिक! अपनी तीव्र इच्छा के साथ मैं इन्द्रावती एक विशेष बात कह रही हूँ कि मुझे एक बार तो बुलाकर देखिए। यह निश्चित है कि मैं आपके चरणों में आकर अपने प्रेम से आपको आनन्दित कर दूँगी और आपको जीत भी लूँगी।

में अनेक वार जीत्यो रे आगे, तेतो जाणो छो चित मांहें।

ते माटे मोसूं करो रे अंतर, पण नाठया न छूटसो क्याहें॥२२॥

मैंने रास की अनेक रामतों में आपको जीता है। इस बात को आप बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। यही कारण है कि आप मुझसे दूर-दूर रह रहे हैं, अर्थात् मुझे अकेले विरह में डाल दिया है और स्वयं नवतनपुरी में रह रहे हैं,

किन्तु यह तो बताइए कि मुझसे दूर भागकर आप कहाँ जायेंगे? आप किसी भी प्रकार से मेरे प्रेम रूपी अस्त्र से नहीं बच सकते?

हूँ जोर करीने ज्यारे आविस इहां, त्यारे तमे करसो केम।
एणे वचने इंद्रावतीए, वालोजी कीधां छे नरम॥२३॥

आप जरा इस बात का उत्तर दीजिए कि यदि मैं आपकी इच्छा के विपरीत जबरन आपके पास आ जाऊँ, तो आप मेरा कर ही क्या लेंगे? मुझे विश्वास है कि मेरी इस बात को सुनकर, अर्थात् मेरे अटूट प्रेम एवं समर्पण की भावना से, आपका हृदय मेरे प्रति कोमल हो जायेगा।

भावार्थ- प्रायः प्रियतमा (प्रेमास्पद, माशूक) को मानवन्ती कहा जाता है, अर्थात् वह प्रेम की तीव्र इच्छा होने पर भी मुख से नहीं कहती। वह यह चाहती है कि

उसका प्रेमी स्वयं उसके पास आये और अपने प्रेम का प्रदर्शन करते हुए उससे प्रेम की याचना करे। किन्तु यह अति आश्चर्यजनक घटना मानी जाएगी यदि प्रियतमा स्वयं अपने प्रेमी के पास जाकर अपने सर्वस्व समर्पण की बात अपने मुख से कहे तथा अपने हृदय का सम्पूर्ण प्रेम अपने प्रेमी के प्रति न्यौछावर कर दे, तो ऐसा पत्थर हृदय वाला कौन सा प्रेमी होगा, जो उससे प्रेम न करे?

इसी तथ्य को ध्यान में रखकर श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि जब मैं स्वयं आपके पास आ जाऊँगी, तो विवश होकर आपको मुझे गले लगाना ही पड़ेगा।

हवे ततखिण तेडवा धणी आवसे, वाले सांभलिया समाचार।
 ए वचन सुणीने इंद्रावतीने, वालो रुदयासों भीडसे आधार॥२४॥
 मेरे जीवन के आधार! प्राण प्रियतम! अब मुझे विश्वास

हो गया है कि मेरे मुख से प्रेम और समर्पण के सम्बन्ध में निकली हुई इन बातों को जब आप सुनेंगे, तो उसी क्षण मुझे लेने के लिये स्वयं आयेंगे और मुझे अपने हृदय से लगा लेंगे (आलिंगनबद्ध कर लेंगे)।

प्रकरण ॥ ६ ॥ चौपाई ॥ ११२ ॥

अधिक मास

राग धनाश्री

वैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाये तो पृथ्वी एक वर्ष में सूर्य के चारों ओर एक परिक्रमा पूरी कर लेती है। यह अवधि ३६५ दिन और ६ घण्टे की होती है। अंग्रेजी गणना के अनुसार जनवरी, मार्च, मई, जुलाई, अगस्त, अक्टूबर, तथा दिसम्बर ३१ दिनों के होते हैं, जबकि फरवरी २८ दिनों का होता है, तथा प्रत्येक चौथे वर्ष फरवरी २९ दिनों का होता है। अप्रैल, जून, सितम्बर, तथा नवम्बर माह ३० दिन के होते हैं। इस प्रकार ३६५ दिन पूरे हो जाते हैं। प्रत्येक वर्ष के ६ घण्टे मिलकर चौथे वर्ष २४ घण्टे या एक दिन अधिक हो जाता है तथा फरवरी का महीना उस वर्ष २९ दिनों का होता है और वर्ष ३६६ दिनों का।

किन्तु भारतीय ज्योतिष के अनुसार होने वाली गणना में शुक्ल पक्ष (१५ दिन) तथा कृष्ण पक्ष (१५ दिन) को मिलाकर ३० दिन होते हैं। इस प्रकार एक महीने में ३० दिन और पूरे वर्ष में ३६० दिन होते हैं। इस प्रकार एक वर्ष में ५ दिन या तीन वर्षों में १५ दिन की अवधि (ईस्वी सन् के अनुसार) बढ़ जाती है। बारह महीनों में यदि क्षय तिथियों की गिनती की जाये, तो प्रत्येक वर्ष ५ दिन कम होते हैं। इस तरह प्रत्येक वर्ष १० दिन विक्रम सम्वत् में कम होते हैं। इस गणना के अनुसार तीन साल में (ईस्वी सन् के आधार पर) तीस दिन बढ़ जाते हैं, जिन्हें बराबर करने के लिये प्रत्येक तीसरे वर्ष एक मास अधिक माना जाता है। इस मास को पुरुषोत्तम मास या अधिक मास भी कहते हैं। यह मास ज्येष्ठ, आषाढ़, या सावन के मास के साथ जोड़ा जाता है, अर्थात् उस वर्ष

यह मास दो बार गिना जाता है। इस मास में घटित होने वाले विरह के अनुभवों को श्री इन्द्रावती जी इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

सुणोने वालैया, कहूं मारी वीतक वात।

आवडाने दुख तमे कां, दीधां रे निघात॥१॥

मेरे प्राण प्रियतम्! मेरी बात सुनिये। इस अधिक मास में विरह की जिस व्यथा को मैं सहन कर रही हूँ, उसे मैं आपसे कह रही हूँ। पहले तो मैं आपसे यह प्रश्न करती हूँ कि मुझे किस अपराध के कारण आपने विरह का इतना अधिक दुःख दिया है?

रुत सघली रे हूं घणूं कलपी, पण वालैए न लीधी मारी सार।

न जाणूं जीव मारो केम करी राख्यो, नहीं तो नव रहे निरधार॥२॥

इस सारी ऋतु में मैं विरह के दुःख में तड़पती रही हूँ, किन्तु आपने मेरी जरा भी सुधि नहीं ली कि इन्द्रावती कैसे जी रही है? निःसन्देह अब तक तो मुझे जीवित रहना ही नहीं चाहिए था, किन्तु पता नहीं आपने मुझे विरह का दुःख देखने के लिये अब तक कैसे बचाये रखा है?

सनेह वालाजीनो संभारतां, एक निस्वासे जीव जाए।

पण ए न जाणूं तमे केही विध करीने, जीव राख्यो काया माहें॥३॥

जब मैं आपके पूर्वकाल के प्रेम को याद करती हूँ, तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आपके विरह की एक ही साँस में मेरा शरीर छूट जायेगा, किन्तु यह महान आश्चर्य की बात है कि मुझे यह पता ही नहीं चल पा रहा है कि आपने मेरे शरीर को अब तक किस प्रकार जीवित रखा

हैं?

ज्यारे जीव हुतो निद्रा मांहे, तेणो ते जुओ विचार।

पण ज्यारे निद्रा उडाडी धणिए, त्यारे केम रहे विना आधार॥४॥

मेरे जीवन के आधार! प्राण प्रियतम! जब तक मेरा जीव माया की नींद में सो रहा था अर्थात् मुझे आपके स्वरूप की पहचान नहीं थी, तब तक तो मेरे जीवित रहने की बात समझ में आती है, किन्तु अब तो आपने माया की नींद हटाकर अपने स्वरूप की पहचान करा दी है। ऐसी अवस्था में आपके बिना मैं कैसे जीवित रह सकती हूँ?

आपोपूं ओलखावी करी, आप रह्या अंत्रीख।

पडदा पाछा कीधां पछी, न जाणूं जीव राख्यो केही रीत॥५॥

अपने स्वरूप की पहचान देने के पश्चात् भी आप अपने

मानवीय आकार (शरीर) में छिपे रहे। जब आपने मेरा प्रणाम स्वीकार नहीं किया (पर्दा कर लिया), तो उस समय मैं इतना दुःखी था कि मेरा जीवित रहना सम्भव नहीं था, किन्तु मुझे स्वयं पता नहीं है कि आपने अपनी कृपा दृष्टि से मुझे किस प्रकार जीवित बनाये रखा?

भावार्थ- श्री देवचन्द्र जी के तन में लीला करने वाले अक्षरातीत को मात्र आड़िका लीलाओं के चमत्कार से ही यथार्थ रूप से नहीं पहचाना जा सकता था। आड़िका लीला से सुन्दरसाथ एकत्र तो हुए, किन्तु परमधाम की वाणी (खिल्वत, परिक्रमा, सागर, और श्रृंगार) के अवतरित न होने से वे जाग्रत न हो सके। इसी तथ्य को लक्ष्य करके यह बात कही गयी है कि सुन्दरसाथ के बीच रहते हुए भी श्री राज जी श्री देवचन्द्र जी के तन में छिपे रहे। यहाँ शरीर के त्याग (अन्तर्धान लीला) का कोई

प्रसंग नहीं है।

नहीं तो ए निध दीठां पछी, खिण एक अंतर न खमाय।

विध सघली दीसे तम मांहे, ओवारणे इंद्रावती जाय।।६।।

अन्यथा आपके स्वरूप (निधि) की पहचान होने के पश्चात् एक क्षण का भी विरह सहन नहीं हो सकता। आपके अन्दर तो परमधाम का सम्पूर्ण सामर्थ्य दिखायी देता है। मैं आपके ऊपर बलिहारी जाती (न्यौछावर होती) हूँ।

भावार्थ— इस चौपाई के चौथे चरण का आशय यह है कि श्री देवचन्द्र जी के अन्दर सर्वशक्तिमान अक्षरातीत ही लीला कर रहे हैं।

खटरुत वालाजी रे वही गयूं, तेना थया ते बारे मास।

एवडो विरह केम दीधो रे वालैया, तमने हजी न उपजे त्रास॥७॥

मेरे प्रियतम! आपके विरह में तड़पते-तड़पते वर्ष की छः ऋतुओं के १२ मास व्यतीत हो गये। आपने मुझे इस प्रकार का कष्टदायी विरह दिया ही क्यों? आश्चर्य है कि आपको अभी भी इस बात का जरा भी डर नहीं है कि विरह की इतनी उग्र अवस्था में मेरी (इन्द्रावती की) मृत्यु भी हो सकती है।

बार मासना पख चौवीस, तेना त्रणसे ने साठ दिन।

त्रणसे ने साठ वचे रात थई, तमे हजिए न सुणो वचन॥८॥

एक वर्ष के १२ महीनों में २४ पक्ष (कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष) होते हैं। दूसरे शब्दों में एक वर्ष में ३६० दिन तथा ३६० रातें भी होती हैं। आपकी याद में बिलखते-

बिलखते इतना समय बीत गया, किन्तु आप इतने कठोर हो गये हैं कि मेरी जरा भी विरह भरी पुकार नहीं सुन रहे हैं।

एक दिन रात माहें साठ घड़ी, एक घड़ी माहें साठ पाणीवल।

एक पाणीवल माहें साठ पल थाय, तमे एवडा रूसणा कीधां सबल॥१॥

एक दिन तथा रात्रि में ६० घड़ी होती हैं और एक घड़ी में ६० पाणीवल होते हैं। इसी प्रकार एक पाणीवल में ६० पल होते हैं। आप मुझसे इतने अधिक नाराज क्यों हैं? मैं आपके विरह में पल-पल तड़पी हूँ, फिर भी आप जरा भी पसीजते (पिघलते) नहीं हैं।

भावार्थ- एक वर्ष में $३६० \times ६० \times ६० \times ६० = ७,७७,६०,०००$ पल होते हैं, अर्थात् आपकी याद में पल-पल तड़पने पर सात करोड़ सतहत्तर लाख साठ

हजार बार तड़पना पड़ता है। प्रेम के सागर कहलाने वाले आप अक्षरातीत ने इस प्रकार कठोरता और निष्ठुरता की चादर क्यों ओढ़ रखी है? क्या इसी में आपको अपनी गरिमा दिखायी दे रही है?

वलीने वसेके अपर महिनो, अधको ते आव्यो जेठ।

हवे कसने पूरो कसोटिए, तमे पारखूं लेओ छो मारू नेठ।।१०।।

इससे भी अधिक विशेष बात यह है कि अधिक मास (पुरुषोत्तम मास) कहा जाने वाला यह ज्येष्ठ का महीना आ गया है। अब तो मुझे ऐसा लगता है कि आप मुझे विरह की कसौटी पर पूरी तरह से खरा ही सिद्ध करना चाहते हैं। निश्चित रूप से इस प्रकार के रूखे व्यवहार द्वारा आप मेरे प्रेम, श्रद्धा, एवं समर्पण की परख करना चाहते हैं। आप अक्षरातीत होकर भी इस प्रकार का

अनजानापन क्यों दर्शा रहे हैं?

हूँ अंग राखूँ वालाजीसूँ मलवा, नहीं तो ततखिण देऊं निवेड।
 वली मेलो न आवे नौतनपुरी ए, ते माटे करूँ छूँ जेड।।११।।
 मेरे धाम धनी! मैंने तो अपने शरीर को अभी तक
 इसलिये जीवित रख रखा है, जिससे कि आपसे भेंट हो
 सके, नहीं तो मैं इसे किसी भी क्षण छोड़ सकती हूँ।
 किन्तु शरीर को छोड़ देने पर पुनः आपसे नवतनपुरी में
 भेंट नहीं हो सकेगी, इसलिये मैं इसे छोड़ने में देरी कर
 रही हूँ।

वल्लभ तणो विरह में न खमाय, वलीने वसेके हमणां।
 प्रमोधपुरी माहें प्रबोध दीधो, हवे मनोरथ छे अति घणां।।१२।।
 मेरे प्रियतम! एक बात और है कि अब आपका विरह

विशेष रूप से सहन नहीं होता। हब्शे (प्रबोधपुरी) में जब आपने मुझे अपने स्वरूप की पहचान दे दी है, तो अब मेरे मन में आपको रिझाने की चाहनायें बहुत अधिक बढ़ गयी हैं।

भावार्थ— यद्यपि "वली" शब्द का अर्थ पुनः होता है, किन्तु यहाँ आशय पुनः कहने से नहीं है, क्योंकि इस चौपाई से पूर्व की चौपाई में नवतनपुरी में मिलने की इच्छा से शरीर को न छोड़ने की बात कही गयी है। यहाँ यह तथ्य दर्शाया जा रहा है कि आपसे मिलना मेरा परम ध्येय तो है, किन्तु अब एक-एक पल का विरह सह पाना असम्भव सा लग रहा है। इस प्रकार "वली" शब्द का आशय "एक बात और" कहने से है।

यह तो सर्वविदित है कि हब्शे की घटना वि.सं. १७१५ की है, जबकि सम्वत् १७०८ में मिहिरराज जी का सद्गुरु

धनी श्री देवचन्द्र जी से वियोग होता है। चार वर्ष के वियोग (२ वर्ष नवतनपुरी में तथा दो वर्ष कला जी के यहाँ) के पश्चात् वे (वि.सं. १७१२ में) सद्गुरु महाराज के बुलाने पर उनके चरणों में जाते हैं। हब्शे में जब उन्हें युगल स्वरूप का साक्षात्कार होता है तो श्यामा जी के स्थान पर श्री देवचन्द्र जी को बैठे हुए देखकर यह बोध होता है, जिन्हें मैं अपना मात्र सद्गुरु माना करता था, वे तो स्वयं अक्षरातीत थे। रास, प्रकाश, षट्ऋतु, तथा कलश गुजराती की दो चौपाइयाँ हब्शे में ही उतरी हैं। इसलिए यहाँ हब्शे का प्रसंग आ गया है, किन्तु वर्णन १७०८-१७१२ के मध्य का है।

ते माटे हूं विरह सहूं छूं, जीव राखूं समझावी मन।

नौतनपुरी तमसूं मेलो करी, मारे सांभलवा छे श्री मुख वचन॥१३॥

मेरे आराध्य! यह मेरा परम लक्ष्य है कि नवतनपुरी में आकर आपका दर्शन करूँ तथा आपके मुखारविन्द से अमृतमयी चर्चा सुनूँ। यही कारण है कि मैं अब तक यह असह्यनीय विरह सहती रही हूँ तथा अपने जीव एवं मन को समझा-बुझाकर शान्त रखने का प्रयास करती हूँ।

**जेणी रुते मूने कीधी परदेसण, वली ते आव्यो असाढ।
हजी विछोडो न भाजो रे वाला, जीवने थई वली वाढ।।१४।।**

जिस ऋतु में मुझे आपसे अलग होकर दूसरी जगह (परदेश) में रहना पड़ा था, अब वही आषाढ का महीना पुनः आ गया है, किन्तु आप अभी भी मेरे विरह का कष्ट दूर नहीं कर रहे हैं। आपके इस रूखेपन से मेरा जीव बहुत ही दुःख भोग रहा है।

वाढ़ वसेके थई जोरावर, ते ऊपर दीधूं वली लोण।

अवगुण मारा तमे आण्या चितसूं, हवे खबर ते लेसे मारी कोण॥१५॥

अब तो मेरे जीव की पीड़ा बहुत अधिक बढ़ गयी है। ऐसी अवस्था में आपके द्वारा मुझे कभी न बुलाया जाना मेरे घावों पर नमक छिड़कने की तरह कष्टकारी लग रहा है। आप तो मेरे सर्वस्व हैं, मेरे जीवन के आधार हैं। जब आप ही मेरे अवगुणों को अपने चित्त में बसाये रखते हैं, तो भला आपके अतिरिक्त संसार में मेरा और कौन है जो मेरी सुधि ले सके?

मू विलखतां तमे दया न कीधी, हवे स्यो वांक काढूं तमारो।

दिन घणां हूं रहीस तम सारूं, हवे जोजो तमे जोर अमारो॥१६॥

मैं आपके विरह में विलखती रही हूँ, किन्तु आप तो ऐसे निष्ठुर हैं कि आपको मेरे ऊपर कभी दया ही नहीं आयी।

अब आप ही बताइये कि जब आप मेरे सर्वस्व हैं, जीवन के आधार हैं, तो मैं आपकी कौन सी भूल बताऊँ? मैं आपके साथ बहुत लम्बे समय तक रह चुकी हूँ। अब आप मेरे प्रेम की शक्ति देखिए।

आ पोहोरो छे कठण एवो, तमे थई बेठा अलगां अवल।

कलकल्यानूं इहां काम नहीं, जीतिए पोताने बल॥१७॥

आप शुरू (वि.सं.१७०८) से ही मुझसे अलग नवतनपुरी में विराजमान रहे और मैं आपसे दूर रहकर तड़पती रही। इस प्रकार यह समय मेरे लिये बहुत ही कठिन रहा है। मुझे ऐसा लगता है कि अब केवल रो-रोकर गिड़गिड़ाते रहने से काम नहीं चलेगा। अपने प्रेम की शक्ति के द्वारा आपको जीतने के लिये मुझे कोई दूसरा ही मार्ग ढूँढना होगा।

भावार्थ– विरह के आँसुओं में अपने सर्वस्व समर्पण के पश्चात् जब अपना प्रेम स्वीकृत नहीं होता है, तो मन की टीस फूट कर बाहर आ जाती है, जो इस चौपाई में दर्शायी गयी है।

केड बांधीने ज्यारे कीजे उपाय, त्यारे तमे थाओ नरम।

आपोपूं ज्यारे नाखिए आंख मीची, त्यारे तमने आवे सरम॥१८॥

जब मैं कमर कसकर आपसे मिलने के लिये उपाय करूँगी, तभी आप कुछ कोमल होंगे। जब मैं आँख मूँदकर, अर्थात् बिना कुछ सोचे-विचारे, अपने अस्तित्व को मिटाकर आपके ऊपर पूर्ण रूप से समर्पित हो जाऊँगी, तभी आप लज्जावश मुझे दर्शन देने के लिए तैयार होंगे।

भावार्थ– जब प्रियतमा के प्रेम को उसका आराध्य

स्वीकार नहीं करता है, तो उसे मानसिक रूप से बहुत पीड़ा होती है। उसकी दृष्टि में उसका प्रेमी बहुत ही कठोर हृदय का प्रतीत होने लगता है। उसे यह बात कचोटती (सालती) रहती है कि मेरे प्रेम का इस प्रकार तिरस्कार क्यों हो रहा है? मेरे प्रेम एवं समर्पण में क्या कमी है, जो पत्थर हृदय वाला मेरा सर्वस्व पिघल नहीं रहा है। मेरे आँसुओं की तो इसे कोई परवाह ही नहीं है। लगता है कि मेरे शरीर छोड़ने के बाद ही मेरा निष्ठुर प्रियतम कुछ पिघलेगा और दर्शन देना चाहेगा, किन्तु ऐसी कृपा किस काम की? जब मैं रहूँगी ही नहीं तो वह आकर क्या करेगा?

इंद्रावती कहे वली मनोरथ पूरजो, जो तमे राखो पोतानी लाज।
ततखिण आवीने तेडी जाओ, जेम काढूं मारा रूदयानी दाझ॥१९॥

मेरे प्राणेश्वर अक्षरातीत! पुनः आप प्रेम, दया, और करुणा के अनन्त सागर भी कहलाते हैं। यदि आप अपनी गरिमा पर कुठाराघात नहीं करना चाहते और अपनी लाज बचाना चाहते हैं, तो आप मेरी इच्छाओं को पूर्ण कीजिए। आप इसी क्षण आकर मुझे दर्शन दीजिए तथा अपने साथ ले चलिए। यदि आप ऐसा करेंगे, तभी आपके विरह में धधकती हुई मेरे हृदय की ज्वालायें शान्त हो सकेंगीं।

प्रकरण ॥ ७ ॥ चौपाई ॥ १३१ ॥

खटरुतीनो कलस – राग प्रभाती

खटरुती का कलस

(षट्ऋतु का कलश)

षट्ऋतु के कलश का तात्पर्य है- षट्ऋतुओं के विरह के अनुभव को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत करना कि वह पूर्व के प्रस्तुतीकरण के ऊपर मुकुट के समान सुशोभित हो। विरह का प्रत्येक अनुभव अपनी विशिष्टता लिये हुए होता है, इसलिये यहाँ "सार" शब्द का प्रयोग उचित नहीं है, क्योंकि "सार" शब्द के साथ असार (तत्वहीन) शब्द जुड़ा होता है। तारतम वाणी का संक्षिप्तीकरण तो किया जा सकता है, किन्तु सार रूप में प्रस्तुत करने की बात नहीं की जा सकती, क्योंकि उसकी एक भी पंक्ति को असार कहकर हाशिये (किनारे) पर नहीं डाला जा सकता। श्री इन्द्रावती जी विरह के

अपने भावों को निम्न शब्दों में व्यक्त करती हैं-

वचन वालाजीना वालेरा रे लागे।

मूने मीठरडा रे लागे, संभलाओ चरचा मीठडी वाण रे।

वचन जे तारतम तणा रे, हवे नहीं मूकूं निरवाण रे॥१॥

मेरे प्राण वल्लभ! आपके वचन मुझे बहुत ही प्यारे और अमृत से अधिक मीठे लगते हैं। मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि आप अपने अति मधुर स्वरों में परमधाम की चर्चा सुनाइये। अब मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं आपके तारतम ज्ञान के वचनों का अनुसरण करना किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ूँगी।

भावार्थ- विरह के क्षणों में ऐसी भी अवस्था आती है, जब ऐसा प्रतीत होता है कि उसका प्रियतम उसके सामने ही बैठा हुआ है और वह उससे बातें कर रही है।

यद्यपि यह सारा दृश्य विरह-प्रेम के कोमल भावों के एक चित्रित महल के समान होता है, जिसमें अतीत की मधुर स्मृतियाँ, वर्तमान की विरह-वेदना, एवं भविष्य के प्रेम की अखण्ड आशा जुड़े होती हैं। यह प्रकरण इन्हीं भावों का व्यक्त स्वरूप है।

सुणिया जे सुंदर तणा रे, न मूकिए एह वचन रे।

आटला दिवस में विचार न कीधो, नव लीधूं वचन नूं धन रे॥२॥

आपके श्रीमुख से हृदय को मुग्ध करने वाले जिन वचनों को मैंने सुना है, उन्हें मैं कभी भी नहीं छोड़ूँगी (भूलूँगी)। आज दिन तक मुझसे यही भूल होती रही है कि मैंने आपके अनुपम वचन रूपी धन का न तो गम्भीरतापूर्वक विचार किया और न गहराई से आचरण में उतारने का प्रयास किया।

भावार्थ- यद्यपि श्री मिहिरराज जी ने सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के प्रत्येक कथन का विचार किया तथा उसे आचरण में उतारने का भी भरपूर प्रयास किया, किन्तु इस प्रकार का कथन हमें विनम्र बनने एवं अपनी विशिष्टताओं का बखान न करने की शिक्षा देता है।

**घणा दिवस में न जाण्यूं मारा वाला, वचन तणी जे निध रे।
जीवना नेत्र उघाडी करीने, तमे दया करी मूने दिध रे॥३॥**

मेरे प्रियतम! बहुत दिनों तक तो मुझे आपके अनमोल वचनों की महत्ता का ही पता नहीं चल सका था। आपने मेरे ऊपर अपार दया करके परमधाम के तारतम ज्ञान की अखण्ड निधि मुझे प्रदान की और मेरे जीव की अन्तर्दृष्टि को खोल दिया।

चरचा जे श्री मुख तणी, सुंदर वाण वचन रे।

एना विचार मोसूं करो रे वाला, मोकलो मेलीने मन रे॥४॥

मेरे जीवन के आधार! आपने अपने श्रीमुख से जो चर्चा की है, उसके वचन बहुत ही सुन्दर हैं, किन्तु मेरी यह विशेष इच्छा है कि आप अपने उन कहे हुए वचनों के सम्बन्ध में खुले हृदय से मेरे साथ विचार-विमर्श रूपी वार्तालाप कीजिए।

पेर पेरनी प्रीछवनी करी रे, विध विधना कहो द्रष्टांत।

वृज रास ने घर तणी, मूने कहो वीतक वृतांत॥५॥

आप तरह-तरह के दृष्टान्त देकर मुझे अनेक प्रकार से समझाइये। ब्रज-रास की लीला तथा परमधाम के इश्क-रब्द (प्रेम-सम्वाद) सहित सम्पूर्ण शोभा और लीला का मुझसे वर्णन कीजिए।

आडीका जे तमे कीधां मारा वाला, साथ मलवाने जेह।
 तेह तणो विचार करी रे, मूने जुगते प्रीछवो वली एह॥६॥
 मेरे धाम धनी! सुन्दरसाथ को एकत्रित करने के लिये
 आपने जो आड़िका लीला की, उसकी जागनी में क्या
 उपयोगिता रही? इसका विचार करके मुझे पुनः
 युक्तिपूर्वक समझाइये।

तारतम तणो विचार करो रे, पेहेलो फेरो थयो केही पेरे।
 केणी पेरे मनोरथ कीधां, जाग्या केही पेरे घेर॥७॥

आप तारतम ज्ञान से इस बात का विचार कीजिए कि
 पहले फेरे ब्रज में किस प्रकार लीला हुई? उसके पश्चात्
 रास में हमने किस प्रकार परमधाम चलने की इच्छा की?
 तत्पश्चात् परमधाम में हम कैसे जाग्रत हुए?

भावार्थ— रास में सखियों को यही इच्छा हुई कि आप

हमें वहाँ ले चलिये, जहाँ आपसे कभी भी वियोग न होता हो-

हवे वाला हूँ एटलूं मांगूं, खिण एक अलगां न थैए।

जिहां अमने विरह नहीं, चालो ते घर जैए॥

रास ४७/४३

आणे फेरे अमे केम करी आव्या, अने तमे आव्या छो केम।

तमे कोण ने तम माहें कोण, मूने कहीने प्रीछवो वली एम॥८॥

पुनः मुझे यह बात भी समझाकर बताइये कि इस जागनी ब्रह्माण्ड (इस फेरे) में हम कैसे आये हैं तथा आप कैसे आए हैं? आप कौन हैं तथा आपके अन्दर कौन विराजमान है?

पोते प्रगट पधारया छो, आडा देओ छो वृज ने रास।

इंद्रावतीसूं अंतर कां कीधूं, तमे देओ मूने तेनो जवाब।।९।।

मेरे अक्षरातीत धनी! इस जागनी लीला में आप स्वयं ही साक्षात् पधारे हैं, किन्तु ब्रज और रास के रूपों की ओट देते हैं। आप मेरे इस प्रश्न का उत्तर दीजिए कि आपने मुझसे इस प्रकार का भेद क्यों छिपाया?

भावार्थ— जब सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी ब्रज-रास की चर्चा करते थे, तो उनके अन्दर विराजमान श्री राज जी के जोश-आवेश से ब्रज-रास की लीला प्रकट हो जाती थी, जिसे देखकर समस्त सुन्दरसाथ आनन्द विभोर हो जाया करते थे। इस प्रकार उनकी निष्ठा ब्रज-रास के रूप श्री कृष्ण जी के प्रति ही होती थी, किन्तु तारतम वाणी का अवतरण न होने से उन्हें इस बात का बोध नहीं हो पाता था कि ब्रज-रास की लीला दिखाने वाले

श्री देवचन्द्र जी के अन्दर स्वयं कौन हैं?

श्री इन्द्रावती जी को इसी बात का खेद है कि यदि मैं भी उस समय आड़िका लीला के आकर्षण में नहीं फँसती तथा मुझे यह बोध हो जाता कि आड़िका के माध्यम से ब्रज-रास की लीला दिखाने वाले स्वयं अक्षरातीत ही हैं, तो मैं उसी समय आप पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती। ऐसी अवस्था में मुझे विरह का कष्ट झेलना ही नहीं पड़ता। क्या कोई पुरुष अपनी अर्धांगिनी से भी भेद रखता है? अक्षरातीत होकर भी आपने मुझसे अपने स्वरूप को क्यों छिपाया?

आपोपूं ओलखावी मारा वाला, दरपण दाखो छो प्राणनाथ।
 दरपणनूं सूं काम पड़े, ज्यारे पेहेरयूं ते कंकण हाथ॥१०॥
 मेरे प्राणनाथ! अपने स्वरूप की पहचान कराने के

पश्चात् भी आप मुझे दर्पण क्यों दिखा रहे हैं, अर्थात् अपने ब्रज-रास के लीला रूपी तनों को ही अपना स्वरूप क्यों बता रहे हैं कि इनमें अक्षरातीत विराजमान हैं? जब हाथ में कँगन पहना हो तो उसे सीधा ही देखा जा सकता है, उसे देखने के लिये दर्पण की क्या आवश्यकता है?

भावार्थ- "हाथ कँगन को आरसी क्या" एक मुहावरा है, जिसका अर्थ होता है "प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने सन्देह का स्थान कहाँ।" श्री देवचन्द्र जी के अन्दर श्यामा जी की आत्मा है, जिनके धाम हृदय में श्री राज जी विराजमान हैं। इस प्रकार श्री देवचन्द्र जी के तन से युगल स्वरूप की प्रत्यक्ष लीला हो रही है।

यह सर्वविदित है कि ब्रज और रास में श्री राधा तथा श्री कृष्ण के तन में श्री श्यामा जी एवं श्री राज जी ने ही

लीला की थी। उन लीला रूपी तनों में वर्तमान समय में न तो श्यामा जी की आत्मा है और न श्री राज जी का आवेश, बल्कि वे स्वरूप (श्यामा जी तथा धनी का आवेश) श्री देवचन्द्र जी के अन्दर लीला कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में अपने सामने प्रत्यक्ष विराजमान युगल स्वरूप (श्री राजश्यामा जी) को न मानकर अखण्ड लीला के तनों (राधा-कृष्ण) को अक्षरातीत मानना वैसे ही हास्यास्पद है जैसे कोई अपने हाथ में पहने हुए कँगन को सीधे नहीं देखता, बल्कि दर्पण में उसके प्रतिबिम्ब को देखकर यह अहसास करता है कि मैंने कँगन पहन रखा है।

तारतम ज्ञान के प्रकाश में धनी की कृपा से जिसने भी जागनी लीला में श्री देवचन्द्र जी एवं श्री मिहिरराज जी के तन में विराजमान युगल स्वरूप (श्री राजश्यामा जी)

की पहचान कर ली, वह श्री राधा-कृष्ण के अखण्ड तनों को अक्षरातीत का युगल स्वरूप कदापि नहीं मानेगा। राधा-कृष्ण के इन दोनों तनों को तभी तक अक्षरातीत का स्वरूप माना गया, जब तक इनमें श्यामा जी की आत्मा तथा धनी के आवेश की लीला थी।

इस चौपाई में श्री देवचन्द्र जी के अन्दर विराजमान श्री राज जी को ही "प्राणनाथ" कहा गया है। यही "प्राणनाथ" (धनी का आवेश) मूल मिलावे में भी विराजमान हैं। इस प्रकार, श्री देवचन्द्र जी या श्री मिहिरराज जी के शरीर को "प्राणनाथ" कहना भूल है। इनके तनों में अक्षरातीत श्री प्राणनाथ (श्री राज जी) ने लीला की है, इसलिये इन्हें सम्बोधन रूप में श्री राज जी या श्री प्राणनाथ जी कहते हैं।

मूने अमल मायानो जोर हुतो, तमे ते माटे कीधो अंतर।
 हवे तमे पडदा टाल्या रे वाला, आप छपसो केही पर।।११।।
 मेरे धाम धनी! मेरे ऊपर माया का बहुत ही गहरा नशा
 छाया हुआ था, इसलिये आपने मुझे विरह का अनुभव
 कराया है। इस समय जब आपने माया का पर्दा हटा ही
 दिया है, तो मुझसे कैसे छिपकर रह सकते हैं अर्थात् मैं
 अपने प्रेम से आपको अवश्य रिझाऊँगी।

आपोपूं ओलखावी करी रे, मूने दीधो वदेस।
 अवगुण जे में कीधां मारा वाला, तेणी तमे हजी न मूको रीस।।१२।।
 अपने स्वरूप की पहचान कराकर विरह में तड़पने के
 लिये आपने मुझे विदेश (श्यामल जी तथा कला जी के
 यहाँ) भेज दिया। ऐसा लगता है कि अपने स्वाभिमान के
 कारण मैंने जो अवगुण (अपराध) किया था, उसकी

नाराजगी अभी तक आपके मन से नहीं गयी है।

भावार्थ— प्रणाम स्वीकार न होने पर सद्गुरु से दूर होकर माया के राजा कला जी के यहाँ नौकरी करना तथा मुगल बादशाह को कर देने के लिये झुक-झुककर अभिवादन करना भी अपराध की श्रेणी में ही आता है। जब श्री मिहिरराज जी को अपनी भूल का अहसास हुआ, तो वे धनी के चरणों में आने के लिये तड़पने लगे।

मूने माया लेहेर हुती जोरावर, ते माटे कीधां अवगुणो।

अंध थको ज्यारे पडे रे कुआमां, त्यारे केहो वांक तेहतणो॥१३॥

मेरे ऊपर माया का बहुत ही गहरा प्रभाव था, इसलिये मुझसे अपराध हो गया। यदि अन्धा व्यक्ति कुँ में गिर जाये, तो उसमें उस बेचारे का क्या दोष माना जा सकता है?

भावार्थ- इस चौपाई में श्री इन्द्रावती जी अन्धे व्यक्ति के कुएँ में गिर जाने का दृष्टान्त देकर अपनी भूल का स्पष्टीकरण देती हैं कि मेरे धाम धनी! यदि आपने मुझे पहले ही अन्तर्दृष्टि देकर अपने स्वरूप की पहचान करा दी होती, तो मैं इस प्रकार का अपराध नहीं कर सकती थी। जब मुझे आड़िका लीला में उलझाकर आपने स्वयं को छिपाये रखा, तो इसमें मेरा क्या दोष? कोई भी पतिव्रता अपने प्रियतम की पहचान करने के पश्चात्, अपने पति के प्रति अपराध नहीं कर सकती।

तमे केहेसो ज्यारे तारतम सांभल्यूं, त्यारे अंध केहेवाय केम।
तेह तणो पडउत्तर दऊं, तमे सांभलो द्रढ करी मन॥१४॥

आप यह बात कह सकते हैं कि जिसे तारतम ज्ञान प्राप्त हो गया हो, उसे अन्धा कैसे कहा जा सकता है? मैं

उसका भी उत्तर देती हूँ। आप अपने मन को दृढ़ करके उसका उत्तर सुनिये।

भावार्थ— मन को दृढ़ करके सुनने के कथन में श्री इन्द्रावती जी के द्वारा व्यंग्यात्मक हास्य प्रस्तुत किया गया है। वे कहती हैं कि आप मेरे कथन को स्थिर, सावचेत, या एकाग्र मन से सुनिए। बाद में यह न कह देना कि सावधानी से न सुनने के कारण अभी समझ नहीं आया।

सामान्यतः अपने आराध्य के प्रति इस प्रकार के कथन नहीं किये जाते, किन्तु प्रेम की लीला में हँसी के रूप में कुछ भी कहा जा सकता है।

वचन सुण्यां ते ग्रह्या मन मांहे, जीवने मोहजल पूरी लेहेर।
तो दुख तमने देवंता, जीवने न आव्यो वेहेर।।१५।।

मेरे धनी! आपके श्रीमुख से कहे हुए वचनों को मैंने अपने मन में अवश्य ग्रहण किया, किन्तु जब मेरा जीव ही माया की लहरों में पूरी तरह डूबा हुआ था, तो मैं क्या कर सकती थी? यही कारण है कि आपको दुःखी करने में मेरे जीव को जरा भी संकोच नहीं हुआ।

भावार्थ— यहाँ यह प्रश्न होता है कि श्री मिहिरराज जी के कारण श्री देवचन्द्र जी को कब दुःखी होना पड़ा?

इसका उत्तर यह है कि भले ही बालबाई के दबाव में श्री देवचन्द्र जी ने प्रणाम स्वीकार नहीं किया, किन्तु आन्तरिक रूप से वे दुःखी अवश्य थे क्योंकि वे वास्तविकता को जानते थे। यद्यपि प्रणाम स्वीकार न किये जाने पर श्री मिहिरराज स्वयं दुःखी थे, किन्तु यदि कुछ दिनों के बाद वे स्वयं चलकर सद्गुरु के चरणों में आ जाते या वहीं पर अनशन करके बैठ जाते, तो देवचन्द्र

जी दुःखी भी नहीं होते तथा उन्हें विवश होकर श्री मिहिरराज जी को गले लगाना पड़ता। सम्भवतः इस घटना से बालबाई को भी अपने हठ एवं दुराग्रह को छोड़कर अपनी मानसिकता बदलनी पड़ती। प्रेम की यही रीति है कि प्रेमी अपने प्रेमास्पद के दुःख को जरा भी सहन नहीं कर सकता। यही कारण है कि श्री मिहिरराज जी को अपना दुःख तो सामान्य लगता है, किन्तु श्री देवचन्द्र जी का थोड़ा सा भी दुःखी होना उन्हें सहन नहीं होता।

वली केहेसो जे निरदोष थाय छे, पण नथी थाती निरदोष कांई हूं।
 धणी सामी बेसी आ मोहजलमां, लेखूं केणी विधे करूं॥१६॥
 मेरे प्राण प्रियतम! आप पुनः कह सकते हैं कि स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने के लिये ही इन्द्रावती ऐसा कह रही

है, किन्तु मैं आपको यह स्पष्ट बता दूँ कि मैं अपने को निर्दोष नहीं कह रही हूँ। जब मैं इस नश्वर जगत में आपके सम्मुख ही बैठी हूँ, तो अपनी निर्दोषिता का प्रमाण देने के लिये अपनी पवित्रता का हिसाब कैसे दूँ?

भावार्थ- प्रिया-प्रियतम का एक ही स्वरूप होता है। श्री इन्द्रावती जी सांकेतिक भाषा में यही कहना चाहती हैं कि मेरे प्रियतम! जब आप पूर्णतया निर्दोष हैं, तो आपकी अर्धांगिनी होकर भी मैं दोषी कैसे हो सकती हूँ? क्या निर्मल चन्द्रमा की चाँदनी मलिन हुआ करती है? क्या जगमगाते हुए सूर्य की किरणें अन्धकार फैलाया करती हैं? मुझे अपनी अर्धांगिनी मानकर भी आप मुझे दोषी क्यों बना रहे हैं? क्या आपका यही पतिपना है? अपने को निर्दोष कहने के बदले मैंने मौन धारण कर लिया है। यही मेरी निर्दोषिता का प्रमाण है।

हवे ने कहूं ते सांभलो वाला, हूं विनता वालाजी तमारी।
 अवगुण जो अनेक होय मारा, तोहे तमे लेओ ने सुधारी॥१७॥

मेरे श्री राज! अब मैं आपसे एक बात कह रही हूँ। जरा
 उसे सुनिए। अन्ततोगत्वा मैं आपकी अर्धांगिनी ही तो हूँ।
 भले ही मेरे अन्दर अनेक दोष क्यों न हों, किन्तु आपको
 उन्हें सुधार लेना चाहिए।

जे में तमसूं कीधां रे अवगुण, तेणी तमे वालो छो रीस।
 आपोपूं ओलखावी करी, तमे दीधो मूने वदेस॥१८॥

मैंने आपके प्रति जो अपराध किया है, उसी के कारण
 आप मुझे अपना क्रोध दिखा रहे हैं। अपने स्वरूप की
 पहचान देने के बाद मुझे विरह में तड़पने के लिये आपने
 विदेश भेज दिया।

एक पुरीमां आपण बेठा, मूने कीधी परदेस।

विरह तणी जे वातो मारा वाला, हूं तमने आवी कहेस॥१९॥

इसी नवतनपुरी के एक कोने में आप बैठे हैं तथा एक कोने में मैं हूँ। मेरे लिये मेरा निवास अब विदेश के समान हो गया है। यहाँ पर मैंने विरह की जिस व्यथा का अनुभव किया है, आपके पास आकर उसे बताऊँगी।

जे विरह तमे दीधो रे वाला, ते सिर ऊपर में सह्यो।

अवगुण साटे तमे ए दुख दीधा, हवे पाड केहेनो नव रह्यो॥२०॥

मेरे प्रियतम! आपने मुझे विरह का जो दुःख दिया, उसे मैंने आपका कृपा प्रसाद मानकर शिरोधार्य किया और उसे सहन किया। मेरे अपराधों के कारण ही मुझे विरह का दुःख देखना पड़ा है, इसलिये अब किसी भी प्रकार के उपकार (एहसान) करने की बात नहीं रह गयी है।

हवे हूं आविस तम पासे, तूं जाइस नाठो क्याहें।

तें छेतरी घणां दिन मूने आगे, ते वार बूठी त्याहें।।२१।।

अब पहले तो मुझे यह बात बताइये कि यदि मैं आपके पास आ जाऊँ, तो आप भागकर कहाँ जायेंगे? आपने मुझे बहुत दिनों तक छला (ठगा) है। अब वह समय निकल गया है, अर्थात् अब मैं आपके द्वारा ठगी नहीं जा सकती।

भावार्थ— उपरोक्त चौपाई में प्रेम की बहुत ही मधुर झिड़कनी है। श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे प्राणेश्वर! आप श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान होकर इतने समय तक मुझे धोखे में रखते रहे। आप स्वयं साक्षात् अक्षरातीत हैं, किन्तु आड़िका लीला के माध्यम से हमारी निष्ठा योगमाया के राधा-कृष्ण के प्रति केन्द्रित करते रहे। अब आप मुझसे कितना छिपेंगे? अपने को

छिपाने के लिये आपने इतने अधिक छल का सहारा क्यों लिया?

अंग उमंग न माये रे वाला, हवे तोसूं करूं केही पर।
 पेहेलूं अंग भीडीने दाझ भाजूं, पछे तेडी जाऊं मारे मंदिर॥२२॥
 मेरे प्रियतम! आपसे मिलने के लिये मेरे हृदय में अपार उमंग है। अब आप ही बताइये कि मैं आपके साथ कैसा व्यवहार करूँ? पहले तो मेरी इच्छा है कि आपके गले लिपटकर अपने हृदय में धधकती हुई विरह की ज्वालाओं को शान्त करूँ। इसके पश्चात् आपको अपने हृदय धाम (मन्दिर) में अखण्ड रूप से बसा लूँ।

जिहां लगे पाड हुतो मारे माथे, तिहां लगे हुती ओसियाली।
 हवे मारी पेर जो जो रे वाला, हूं न टलूं तूंथी टाली॥२३॥

मेरे धाम धनी! जब तक मेरे ऊपर आपके एहसानों का बोझ था, तब तक मुझे लज्जा आती थी। अब आप मेरे प्रेम की राह तो देखिए। आपके हटाने से भी मैं इस प्रेम मार्ग से नहीं हटूँगी।

भावार्थ— सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी ने तारतम ज्ञान के प्रकाश में श्री मिहिरराज जी को परमधाम, अक्षरातीत, एवं उनकी परात्म का बोध कराया था। यही उनके ऊपर सद्गुरु का एहसान था, जिसके कारण उन्होंने स्वयं को सद्गुरु के प्रति समर्पित किया, किन्तु जब श्री मिहिरराज जी को ४ वर्षों तक निरन्तर विरह की अग्नि में जलना पड़ा तो एहसान का बोझ हल्का हो गया, क्योंकि श्री इन्द्रावती जी का कथन है कि आपने भले ही मुझे त्याग दिया, किन्तु मैं तो आपके विरह में पल-पल तड़पती ही रही।

हवे हूं जीतूं तूने जोपे करी, में ओलखियो आधार।

में अनेक वार जीत्यो रे आगे, वलीने वसेके रे आवार।।२४।।

मेरे जीवन के आधार! मैंने आपकी पहचान कर ली है और प्रेम में आपको अच्छी तरह से जीत लूँगी। अतीत में (रास में) आपको मैंने अनेक बार जीता है और पुनः इस बार (जागनी ब्रह्माण्ड में) भी अवश्य जीतूँगी।

केही पेरे वाद करीस तूं मोसूं, तूं छे म्हारो जाण्यो।

जिहां जेणी पेरे कहीस रे वाला, तिहां आवीस मारो ताण्यो।।२५।।

अब आप अपनी किस शक्ति के द्वारा मुझसे झगड़ा करना चाहते हैं? मैं आपको अच्छी तरह से जानती हूँ। आपको तो मैं जहाँ कहीं भी जिस प्रकार से आने के लिये कहूँगी, आपको मेरे इशारे पर खिंचे हुए आना पड़ेगा।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी धनी के प्रति अपने प्रेम एवं

समर्पण के वर्चस्व को दर्शाते हुए कह रही हैं कि रास की अनेकों रामतों में मैं आपको जीत चुकी हूँ। समर्पण एवं प्रेम के क्षेत्र में अनेक बार हारने (श्यामा जी के चरणों के बीच से निकलकर जाने आदि रामतों में) के बाद यह सिद्ध हो गया है कि आप प्रेम के क्षेत्र में बहुत कमजोर हैं, इसलिये आपको मुझसे विवाद भी करने का अधिकार नहीं है। आप तो प्रेम-युद्ध में मुझसे हारकर मेरे अधीन हो गये हैं। इसलिये आपसे मैं जो कुछ भी कहूँगी वही करना पड़ेगा और मैं जहाँ भी बुलाऊँगी आपको आँखें मूँदकर चुपचाप वहीं आना पड़ेगा।

जो एक पग पर राखूँ तूने, तो हूँ इंद्रावती नार।

दिन घणा तू छपयो मोसूँ, हवे नहीं छपी सके निरधार॥२६॥

मैं आपको यदि एक पैर पर खड़ा रखूँ, तभी मैं आपकी

अर्धाङ्गिनी कहलाऊँगी। बहुत दिनों तक आप मुझसे छिपते रहे हैं अर्थात् अपनी पहचान नहीं देते रहे हैं। निश्चित रूप से अब आप मेरी नजरों से छिप नहीं सकते।

भावार्थ- "एक पैर पर खड़े रहना" एक मुहाविरा है जिसका अर्थ होता है, पूर्ण सजगता के साथ आज्ञा पालन के लिए तैयार रहना। श्री इन्द्रावती जी की आत्मा अपने मूल सम्बन्ध के प्रेम के आधार पर यह दावा करती हैं कि अक्षरातीत को इस प्रेम युद्ध में हार जाने के कारण उनकी इच्छा के अनुसार ही चलना होगा। इस जागनी लीला में श्री इन्द्रावती जी को धनी के स्वरूप की जो पहचान हुई, वह पहचान ब्रज और रास में नहीं थी। इसे ही बहुत दिनों तक छिपे रहना कहा गया है।

हवे जेम नचवूं तेम नाचो रे वाला, आव्या इंद्रावतीने हाथ।
 ते वसीकरण नी दोरिए बांधूं, जेम देखे सघलो साथ॥२७॥
 मेरे प्राणनाथ! अब आप मेरे वश में हो गए हैं। अब जैसे
 मैं आपको अपने इशारे पर नचाऊँगी, वैसे ही आपको
 नाचना पड़ेगा। आपको वशीकरण की रस्सी से इस तरह
 से बाँधूँगी कि सारा सुन्दरसाथ देखता ही रह जाएगा।

भावार्थ- "इशारे पर नचाना" भी एक मुहाविरा है
 जिसका अर्थ होता है, पूर्णतया वशीभूत कर लेना। श्री
 मिहिरराज जी के लम्बे समय तक सद्गुरु धनी श्री
 देवचन्द्र जी से दूर रहने के कारण कुछ सुन्दरसाथ
 (श्याम जी, बिहारी जी, आदि) के मन में यह भावना घर
 कर गयी थी कि सद्गुरु महाराज मिहिरराज जी से अब
 पहले की तरह प्रेम नहीं करते हैं। उन्हीं को उत्तर देने के
 लिये श्री इंद्रावती जी यह दावे के साथ कहती हैं कि मैं

धाम धनी को अपनी प्रेममयी रस्सी के द्वारा बाँध लूँगी
अर्थात् अधीन कर लूँगी।

जोड़ए कोण मुकावे जोरावर, ते कोय देखाडो नार।
मारे मंदिर थकी कोण मुकावसे, वस मारे आव्या आधार॥२८॥
मेरे प्राणाधार! अब मैं देखती हूँ कि ऐसी कौन सी
शक्तिशालिनी सखी (ब्रह्मसृष्टि) है, जो मेरे हाथ से
आपको छुड़ा लेती है। जब आप मेरे प्रेम के पूर्णतया
वशीभूत हो गये हैं और मेरे धाम हृदय रूपी मन्दिर में
आकर विराजमान हो गये हैं, तो भला कौन आपको
मुझसे अलग कर (छुड़ा) सकती है?

जे कोई सुंदरी होय रे जोरावर, तेणे सीखवुं वसीकरण वात।
विध विधनी तेणे विद्या देखाडूं, जेणे वस थाय प्राणनो नाथ॥२९॥

हे साथ जी! आप सबमें यदि कोई ब्रह्मात्मा (सखी) अपने को बहुत शक्तिशालिनी मानती हो, तो मैं उसे भी धनी को वश में करने का तरीका बता सकती हूँ। इसके अतिरिक्त प्रेम के द्वारा रिझाने की अनेक प्रकार की उन विद्याओं को भी सिखा दूँगी, जिनसे अपने प्राणनाथ को वशीभूत किया जाता है।

देतां विद्या कोई जोर न दाखे, तो सखी बल करी मुकावसे केम।
इंद्रावतीने वस आव्या छो, हवे जेम जाणसे करसे तेम॥३०॥

अपने धाम धनी को रिझाने की विद्या सिखाते समय यदि कोई सखी (ब्रह्मसृष्टि) सीखने में भी अपनी शक्ति नहीं लगाती है, तो वह अपनी शक्ति से श्री राज जी को मुझसे कैसे ले सकती है? मेरे प्राण प्रियतम! अब तो आप मेरे वश में आ गये हैं। अब मैं जैसा चाहूँगी, वैसा ही

आपको करना होगा।

भावार्थ- उपरोक्त तीनों चौपाइयों (२८, २९ तथा ३०) में सम्भवतः बिहारी जी की ओर संकेत किया गया है, जो गुरुपुत्र होने के कारण स्वयं को श्री मिहिरराज जी का प्रतिद्वन्द्वी मानते रहे हैं। उनके मन में यही भावना रहती है कि पिता की विरासत के रूप में अक्षरातीत कहलाने की शोभा उन्हें ही मिलनी चाहिये। श्रद्धा, अटूट विश्वास, विरह, तथा प्रेम के द्वारा ही अपने प्राणेश्वर को रिझाकर वशीभूत किया जाता है। बिहारी जी में इन चारों गुणों में से एक भी गुण नहीं था। इसलिये श्री इन्द्रावती जी ने स्पष्ट संकेत कर दिया कि गादी पर बैठने मात्र से बिहारी जी मेरी शोभा (धनी को हृदय में बसाकर उन्हें वशीभूत कर लेने) को नहीं ले सकते।

सेवा कंठमाला घालूं तेह सनंधनी, पोपट करूं नीलडे पांख।

प्रेमतणा पांजरा मांहें घाली, हूं थाऊं साख ने द्राख।।३१।।

मेरे प्रियतम! मेरी एकमात्र यही इच्छा है कि अपनी सेवा से आपके गले की माला बनकर आपसे लिपटी रहूँ, अर्थात् सर्वदा आपकी सेवा में लगी रहूँ। आपको हरे पँखों वाला अति सुन्दर तोता बनाकर अपने हृदय के प्रेम रूपी पिंजरे में रखूँ तथा अपने शरीर को मीठे आम और अँगूर में परिवर्तित कर लूँ, जिसे आप चाव से खाया करें।

भावार्थ— उपरोक्त चौपाई समर्पण की सर्वोच्च भावना को दर्शाती है। प्रियतमा इन्द्रावती का रोम-रोम मात्र अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत के लिये समर्पित है। अपने धाम हृदय को वह उस पिंजरे के रूप में देखना चाहती हैं, जिसका एक-एक तार प्रेम का ही बना हो, तथा जिसमें प्रवेश कर जाने के पश्चात् प्रियतम अक्षरातीत उससे कभी भी

बाहर न निकलें अर्थात् अखण्ड रूप से हृदय में बस जायें।

अपने समर्पण की भावना को वह इन शब्दों में व्यक्त करती हैं— मेरे प्राणवल्लभ! मेरे आत्मिक शरीर का रोम-रोम आपका ही है। यह मीठे आम और अँगूर की तरह आपकी सेवा में प्रस्तुत है। आप तोता बनकर अति आनन्दपूर्वक इसे खाइए जिससे मैं धन्य-धन्य हो जाऊँ।

हवे हूं कहीस तेम तूं करीस, मूने विरह दीधो अति जोर।
तोहे तें मारी खबर न लीधी, में कीधा घणा बकोर।।३२।।

अब तो मैंने आपको अपने प्रेम के वश में कर लिया है, इसलिये जैसा मैं कहूँगी, वैसा ही आपको करना होगा। आपने मुझे विरह की भयानक अग्नि में जलाया है। मैं आपके दीदार के लिये बिलख-बिलख कर रोती रही,

किन्तु आपने मेरी जरा भी सुधि नहीं ली।

खार हवे ते हूं वालूं रे वाला, घणा दिन हुती रुदे झाल।
 ज्यारे में तमने भीडिया जीवसूं, त्यारे रुदे ठरयूं तत्काल॥३३॥
 बहुत दिनों तक मेरे हृदय में विरह की ज्वालायें धधकती
 रही हैं, इसलिये अब मैं उसका जी भरकर बदला लूँगी।
 जब मैं प्रेमपूर्वक आपसे आलिंगनबद्ध हो जाऊँगी, तभी
 मेरे हृदय में शान्ति हो सकेगी अन्यथा नहीं।

जीव सकोमल कूपल काढया, खिण नव लागी वार।
 फूले रंग फल फलियारे, ततखिण रंगे रंग्यो विनता आधार॥३४॥
 मेरे धाम धनी! आपको पाने के लिये मेरे जीव ने एक
 क्षण की भी देर किये बिना अपने हृदय से विरह की अति
 कोमल नयी-नयी कोपलें निकालीं, जिनसे प्रेम के अति

सुन्दर फूल खिल गये। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इन प्रेम के फूलों से आपका दर्शन (दीदार) रूपी फल अवश्य निकलेगा और आप उसी क्षण मुझ अंगना को अपने प्रेम एवं आनन्द के रंग में रंग देंगे (डुबो देंगे)।

इंद्रावतीने एकांते हाथ आव्या, हवे जो जो अमारो बल।

ते वसीकरण करूं रे तमने, जेणे अलगां न थाओ नेहेचल॥३५॥

अब तो मैंने एकान्त में आपको पा लिया है। अब मेरे प्रेम की शक्ति देखिए। मैं इस प्रकार से आपको वश में कर लूँगी कि आप एक क्षण के लिये भी कभी अलग होने की कोशिश नहीं करेंगे।

भावार्थ- विरह-प्रेम की गहन अवस्था में प्रियतमा के सम्मुख मात्र उसका आराध्य होता है। उस समय संसार का जरा भी चिन्तन नहीं होता। इसलिये यही वह एकान्त

है, जिसमें श्री इन्द्रावती जी ने अपने प्राणनाथ को पाया है।

हवे अधखिण हूं अलगां न करूं, आतमाए लीधी आतम सूं बाथ।
जीत्यो में तूने जोर करी, देखतां सर्व साथ॥३६॥

मेरे जीवन के आधार! मेरी आत्मा आपसे प्रेमपूर्वक आलिंगनबद्ध हो चुकी है। अब तो मैं आधे क्षण के लिये भी आपको अपने से अलग नहीं होने दूँगी। सब सुन्दरसाथ भी इस बात को अच्छी तरह से देख रहा है कि मैंने आपको अपने प्रेम के बल से जीत लिया है।

तेजसूं तेज करूं रे मेलावो, जोतने जोत छे भेला।
अंग सदीवे छे रे एकठां, परआतम ने मेला॥३७॥

मैं आपके हृदय में विराजमान तारतम ज्ञान के तेज से

अपने आत्म-बोध रूपी तेज को मिलाना (एकरूप करना) चाहती हूँ। मेरी आत्मिक ज्योति पल-पल आपकी ज्योति के साथ ही रहना चाहती है। वस्तुतः परमधाम में हम सभी अंगनाओं की परात्म तो आपके साथ ही रहकर अनादि काल से लीला करती रही है।

भावार्थ- अपनी परात्म का श्रृंगार सजकर ही आत्मा अपने प्रियतम श्री राज जी के हृदय में उमड़ने वाले तारतम ज्ञान के सागर (तेज) से स्वयं को यथार्थ रूप में जोड़ सकती है तथा अपने इस पञ्चभौतिक तन से परे होकर पल-पल उनकी सान्निध्यता का अनुभव कर सकती है। "हक नजीक सेहेरग से" का भाव ही आत्मिक ज्योति का परमात्म (परब्रह्म) ज्योति के साथ रहना है। इस तथ्य को तारतम वाणी में इस प्रकार दर्शाया गया है-

जो मूल सरूप हैं अपने, जाको कहिए परआतम।
सो परआतम संग लेय के, विलसिए संग खसम॥

सागर ७/४९

अनेक वासनाओं तमे ओलखिओ, पण में ओलख्यो धाम धणी।
तें मोसूं टाला घणुंए कीधां, पण में जीत्यो विध घणी॥३८॥
मेरे धाम धनी! भले ही आपने अनेक आत्माओं की
पहचान की है, किन्तु मैंने तो साक्षात् आपको ही एक
मानव तन में पहचान लिया। यद्यपि आपने मुझे अपने से
अलग करने के लिये बहुत उपाय किये, किन्तु
अन्ततोगत्वा अपने प्रेम के बल से मैंने आपको जीत ही
लिया।

भावार्थ— इस चौपाई में श्री इन्द्रावती जी अपने मन की
टीस (पीड़ा) को व्यंग्य के रूप में कह रही हैं कि

सम्भवतः आप सोचते थे कि मेरे द्वारा प्रणाम स्वीकार न किये जाने पर इन्द्रावती रूठ जायेगी तथा मुझसे अलग होकर प्रेम में हार जायेगी, किन्तु आपकी पहचान पाकर अपने प्रेम से मैंने आपको ही जीता है। मेरे हारने का तो प्रश्न ही नहीं है।

वासना सकलने तमे परखो छो, जोई सर्वे ना चेहेन रे।

अंग ओलखी श्री धाम मधे, त्यारे देखो आंही ऊभी ऐन रे।३९॥

मेरे श्री राज! आप तो सभी आत्माओं के आचरण देखकर उनकी पहचान करते हैं। आप परमधाम के मूल मिलावे में विद्यमान उनके मूल तनों को भी देखते हैं तथा इस संसार में उनके नश्वर तनों को भी।

में तूने परख्यो पूरे चेहेनें, अंग ओलख्यूं हूं अरधंग।

में तूने जीत्यो सघली पेरे, श्री धाम धणी हूं अभंग॥४०॥

मेरे धाम धनी! मैंने भी आपका व्यवहार देखकर आपके हृदय की पूर्ण पहचान कर ली है, क्योंकि मैं अनादि काल से आपकी अर्धांगिनी हूँ। इस प्रकार मैंने आपको हर तरह से जीत लिया है।

साथ सकलना वचन विचारी, चित्त ओलखो छो सर्वे जाण।

वचन पाधरा प्रगट कहे छे, जे पगलां भरियां प्रमाण॥४१॥

आप सब सुन्दरसाथ के वचनों का विचार करके उनके मन की सारी बातें जान जाते हैं। इस प्रकार, आप तो सब कुछ जानते ही हैं। तारतम वाणी के वचन स्पष्ट रूप से यह बात कहते हैं कि आत्माओं की जाग्रति के लिये आपने जो भी राह अपनायी है, वह पूर्णतया ठीक है।

श्रीजीना वचन में विचारिया, निध लीधी वचनोनी सार।

विविध पेरे में तूने रे वाला, हूं जीती धाम धणी आधार॥४२॥

मैंने आप अक्षरातीत श्री जी के वचनों का विचार किया और उनके सार रूप अखण्ड निधि को ग्रहण किया। मेरे धाम धनी! आप ही मेरे जीवन के आधार हैं। आपको मैंने अपने प्रेम के द्वारा अनेक प्रकार से जीत लिया है।

भावार्थ— सामान्यतः "श्री जी" या "प्राणनाथ" शब्द को मिहिरराज जी के रूप में कहने की भूल चल पड़ी है। मिहिरराज उस तन का नाम है, जिसके अन्दर मरु राजा के जीव पर श्री इन्द्रावती जी की आत्मा विराजमान है। श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में लीला करने वाले अक्षरातीत श्री राज जी को ही "श्री जी" या "श्री प्राणनाथ जी" कहते हैं। उपरोक्त चौपाई में श्री देवचन्द्र जी के अन्दर विराजमान श्यामा जी की आत्मा के धाम

हृदय में लीला करने वाले अक्षरातीत श्री राज जी को ही "श्री जी" या "श्री प्राणनाथ जी" कहा गया है। इस चौपाई के अतिरिक्त इसी प्रकरण की चौपाई १० तथा २९ में कथित "दरपण दाखो छो प्राणनाथ" तथा "जेणे वस थाय प्राणनो नाथ" का कथन यही सिद्ध करता है।

चौद भवन जे सुकजीए मथिया, वली पडदे मथिया ब्रह्मांड तीत।

तेहेनो सार तमे प्रगट करी रे, साथने दीधो रूडी रीत।।४३।।

शुकदेव जी ने १४ लोकों का चिन्तन किया। इसके पश्चात् उन्होंने चौदह लोक एवं शून्य-निराकार से परे बेहद मण्डल की लीला का भी अनुभव किया, किन्तु वह ज्ञान परदे में ही रहा क्योंकि जोश चले जाने के कारण शुकदेव जी यथार्थ रूप से वर्णन नहीं कर सके थे। किन्तु आपने तारतम के प्रकाश में सुन्दरसाथ को हद-बेहद

दोनों का ही ज्ञान बहुत ही मनोरम ढंग से दे दिया।

ते मां सारहूं तमतणों मथिया, तेहेनो सार लीधो आधार।

हूं धणियाणी श्री धाम धणीनी, में जीत्यो अनेक वार॥४४॥

मेरे धाम धनी! आपके निकाले हुए सार तत्व का मन्थन करके मैंने यही सार निकाला है कि एकमात्र आप ही मेरे जीवन के आधार हैं तथा मैं आपकी अर्धांगिनी हूँ। मैंने प्रेम के द्वारा अनेक बार आपको जीता है (वशीभूत किया है), भले ही आप इसे स्वीकार करें या न करें।

हवे चरणे लागी अंग भीडी इंद्रावती, मूने मारे धणिए कीधी सनाथ।

मनना मनोरथ पूरण करी, वाले लीधी पोताने साथ॥४५॥

अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत से आलिंगनबद्ध होकर और उनके चरणों में प्रणाम करके श्री इंद्रावती जी की आत्मा

कहती है कि मेरे प्रियतम! जब मैं विरह की अवस्था में थी, तब तक मैं एक अनाथ की तरह थी, किन्तु आपकी सान्निध्यता पाकर अब मैं सनाथ हो गयी हूँ। आपने मेरी प्रेम की सभी इच्छाओं को तो पूर्ण किया ही है, साथ ही अपनी अर्धांगिनी के रूप में मुझे स्वीकार भी किया है।

साथ हतो जे इंद्रावती पासे, वाले पूरी तेनी आस रे।

सकल मनोरथ पूरण थया रे, फलिया ते रास प्रकास रे॥४६॥

हब्शे में मेरे साथ मेरे बड़े भ्राता श्यामल जी तथा लघु (छोटे) भ्राता उद्धव जी भी थे। आपने उनकी भी इच्छायें पूर्ण की। हब्शे में दर्शन देकर आपने मेरी सभी कामनाओं को पूर्ण किया, जिसके परिणामस्वरूप रास, प्रकाश, तथा इस षट्ऋतु ग्रन्थ का अवतरण हुआ।

भावार्थ— यहाँ प्रश्न यह होता है कि बालबाई के आग्रह

करने पर श्री मिहिरराज सद्गुरु महाराज के चरणों में तो गये थे, किन्तु यहाँ हब्शे में ही मिलन का वर्णन क्यों किया गया है?

इसका उत्तर यह है कि श्री मिहिरराज जी भले ही २२ दिनों तक सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी की सान्निध्यता में रहे, जिससे उनके गिले-शिकवे भी दूर हो गये तथा सद्गुरु का विशेष स्नेह भी मिला, किन्तु उन्हें अभी तक पूर्ण सन्तोष या आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकी थी, क्योंकि न तो अभी तक पूर्ण पहचान हो सकी थी और न परमधाम के भाव से पूर्ण प्रेम ही मिल सका था। इसका मुख्य कारण पञ्चभौतिक पुरुष तन का पर्दा था। हब्शे में युगल स्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात् न तो उनमें कोई संशय रहा और न प्रेम की अतृप्ति का अहसास रहा। यही कारण है कि अपनी इच्छाओं के पूर्ण होने की घटना को

उन्होंने हृषी के साथ जोड़ा है।

प्रकरण ॥ ॢ ॥ चौपाई ॥ १७७ ॥

अथ बारेमास – सरद रुत

राग मलार

अब बारह मास – शरद ऋतु (भादो, व्कार)

दूसरे प्रकार का यह विरह रूपक अलंकार के रूप में वर्णित है। इसमें कुल सात प्रकरण हैं तथा प्रत्येक प्रकरण की प्रत्येक चौपाई के अन्त में "हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूँ" का कथन है, जो यह सिद्ध करता है कि इसमें अपने प्रियतम "श्याम" को पुकारा गया है।

किन्तु "श्याम" कौन है? संस्कृत भाषा में "श्याम" के निम्नलिखित अर्थ मुख्य हैं— १. श्री कृष्ण, २. अक्षयवट वृक्ष, ३. काला, ४. बादल, ५. कोयल, ६. सैन्धव नमक, ७. काली मिर्च, ८. तमाल का वृक्ष, ८. भौरा, १०. एक प्राचीन देश।

किन्तु यहाँ पर "श्याम" शब्द का यथार्थ अर्थ है –

किशोरावस्था का वह अति सुन्दर स्वरूप, जो लालिमा भरे मुखारविन्द वाला हो। इसी प्रकार, "तप्त कांचन वर्णाभा सा श्यामा इति उच्यते" अर्थात् तपाये हुये कञ्चन के समान लाल (गहरी गुलाबी) आभा वाली किशोरी कन्या को "श्यामा" कहते हैं।

संस्कृत साहित्य में श्री कृष्ण, राम, विष्णु, आदि के लिये "श्याम" तथा सीता आदि के लिये "श्यामा" शब्द का प्रयोग किया गया है—

तत्र कमल पत्राक्षः श्यामो निरुपमो महान।

उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति॥

वाल्मीकि रामायण अयोध्या का. सर्ग ३४/१

जब कमलनयन श्याम सुन्दर उपमारहित महापुरुष श्री राम ने सुमन्त्र से कहा— आप पिताजी को मेरे आगमन की सूचना दे दीजिए।

सुपर्ण पृष्ठे स बभौ श्यामः पीताम्बरो हरिः।

कांचनस्य गिरेः श्रृंगे सतडित्तोयदो यथा॥

वाल्मीकि रामायण उत्तर का. ६/६७

गरुड़ की पीठ पर बैठे हुए वे पीताम्बरधारी श्याम सुन्दर श्री हरि (विष्णु) सुवर्णमय मेरू पर्वत के शिखर पर स्थित हुए विद्युत सहित मेघ के समान शोभा पा रहे थे।

हनुमान जी सीता जी के बारे में सोचते हैं—

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।

नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थं वरवर्णिनी॥

वाल्मीकि रामायण सुन्दर का. १४/४९

यह प्रातःकाल की सन्ध्या का समय है। इसमें मन लगाने वाली और सदा १६ वर्ष की सी अवस्था में रहने वाली जनक कुमारी सुन्दरी सीता सन्ध्याकालिक उपासना के लिये इस पुण्य सलिला नदी के तट पर

अवश्य पधारेगी।

महाभारत आदि पर्व १६६ / ४५ में द्रौपदी को भी "श्यामा" कहा गया है—

श्यामा पद्मपलाशाक्षी नीलकुंचितमूर्धजा।

अर्थात् द्रौपदी (श्यामा) कमल के समान खिले हुए नेत्रों वाली थी। केश काले-काले और घुँघराले थे।

किन्तु तारतम वाणी में "श्याम" शब्द का प्रयोग मुख्यतः श्री राज जी के लिये ही किया गया है। जैसे—

मूल वतन धनिएं बताइया, जित साथ स्यामा जी स्याम।

किरंतन ९९/२

चरचा सुने वतन की, जित साथ स्यामा जी स्याम।

किरंतन १०५/१३

सुन्दर सरूप स्याम स्यामा जी को, फेर फेर जाऊं बलिहारी।

किरंतन ११९/२

खिलवत खाना अर्स का, बैठे बीच तखत स्यामा स्याम।

सागर ८/६

प्रेम अरस परस स्यामा स्याम, सैयां वतन धनी धाम।

परिकरमा १/३९

उपरोक्त समीक्षा के आधार पर यह बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि षट्ऋतु की वाणी में जहाँ कहीं भी "श्याम" शब्द का प्रयोग हुआ है, वह मात्र श्री राज जी के लिये ही हुआ है। रूपक अलंकार के रूप में घटनाक्रम में कहीं श्री देवचन्द्र जी का वर्णन है, तो कहीं श्री कृष्ण जी का।

यह विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य है कि अक्षरातीत ने मात्र ११ वर्ष ५२ दिन तक ही ब्रज में श्री कृष्ण जी के

तन में लीला की थी। गोकुल तथा मथुरा में ११ दिन की लीला करने वाले श्री कृष्ण जी को ही षट्ऋतु की वाणी में रूपक अलंकार के माध्यम से दर्शाया गया है, क्योंकि उनके द्वारा विरह की घटनाओं को दर्शाना है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि प्रतिभासिकी लीला में श्री कृष्ण जी के तन में न तो अक्षर की आत्मा थी और न अक्षरातीत का आवेश। उसमें योगमाया के श्री कृष्ण जी की आवेश शक्ति थी, जिनके विरह में गोपियाँ १०० वर्षों तक तड़पती रहीं।

याही विरह में छोड़ी देह, सो पहुंची जहां सरूप सनेह।

प्रकास हिन्दुस्तानी ३७/५४

विरह की उन्हीं घटनाओं के दृष्टान्त से श्री इन्द्रावती जी ने अपने धाम धनी को पुकारा है, जो श्री देवचन्द्र जी के अन्दर लीला करते हैं तथा पुनः श्री इन्द्रावती जी के

धाम हृदय में विराजमान हो जाते हैं। यह बात सातवें प्रकरण की अन्तिम चौपाई (१७वीं) में कही गयी है—

सखियों मारो जीव जीवन मांहे भलियो, अमे माया ग्रही तोहे ते पल न टलियो।
ए वालो अम बिना कोणे न कलियो, इंद्रावती कहे अमारो अमने मलियो॥
हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥

षट्ऋतु के इन कथनों को सुनकर ही बिहारी जी नाराज हुए थे कि इन्द्रावती के अन्दर अक्षरातीत कैसे विराजमान हो सकते हैं, जबकि गादी पर मैं विराजमान हूँ।

विरह के उन अनमोल क्षणों को षट्ऋतु में श्री इन्द्रावती जी के शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

पिउजी तमे सरदनी रुते रे सिधाव्या,

हांरे मारा अंगडामां विरह वन वाव्या।

ए वन खिण खिण कूपलियो मूके,

हां रे मारूं तेम तेम तनडूं सूके॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१॥

मेरे प्राणवल्लभ! आप शरद ऋतु में धाम पधारे, जिससे मेरे अंग-अंग में विरह का यह भयानक वन उग आया है। अब तो इस विरह रूपी वन के वृक्षों से जैसे-जैसे कोपलें पल-पल निकल रही हैं, वैसे-वैसे मेरा शरीर सूख-सूख कर काँटा होता जा रहा है। मैं विरह के आँसुओं में डूबकर आपको पुकार रही हूँ। आप कब मिलेंगे?

भावार्थ- सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के अन्तर्धान होने के पश्चात् श्री मिहिरराज जी विरह के शोक में डूब गये। वही क्षण इन चौपाइयों (१-३) में दर्शाये गये हैं।

वाला हूँ तो पिउ पिउ करी रे पुकारूँ,

पिउजी विना दोहेला घणां रे गुजारूँ।

हूँ तो दुखडा मांहेँ ना माहेँज मारूँ,

हूँ तो निस्वासा अंग मां उतारूँ॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूँ॥२॥

अब तो मैं आपको प्रियतम-प्रियतम कहते हुए पुकार रही हूँ। आपके बिना मेरा समय बहुत ही कष्टपूर्वक व्यतीत हो (गुजर) रहा है। अपने दुःख को मैं अन्दर ही अन्दर पी रही हूँ और विरह की गर्म-गर्म सांसे ले रही हूँ। मेरे प्रियतम अक्षरातीत! मैं आपको बारम्बार पुकार रही हूँ। मेरे इन नीर भरे नेत्रों के सामने कब आओगे?

वाला मारा भादरवे ते नदी नाला भरिया,

पिउ जी निरमल जल रे उछलिया।

वाला मारा गिर डूंगर खलखलिया,

पिउजी तमे एणे समे हजिए न मलिया।।

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं।।३।।

मेरे आराध्य! भादो के इस महीने में नदी-नाले जल से भर गये हैं। उनमें स्वच्छ जल उछलते हुए क्रीड़ा कर रहा है। छोटे-बड़े पहाड़ों से खलखलाता हुआ जल बह रहा है। किन्तु ऐसे मनोहर समय में आप ही नहीं मिल पा रहे हैं। इस विरह व्यथा को मैं कैसे सहन करूँ? मैं बारम्बार यही रट लगा रही हूँ कि हे प्रियतम! आ जाइए।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी को ऐसा प्रतीत होता है, जैसे नदी-नालों में उछलते हुए क्रीड़ा करने वाला तथा पहाड़ों से खलखलाते हुए बहने वाला स्वच्छ जल

उसका उपहास उड़ा रहा है कि देख इन्द्रावती! मैं तो जड़ जल हूँ, जो आनन्दपूर्वक क्रीड़ा कर रहा हूँ, जबकि तू तो अक्षरातीत की प्राणेश्वरी कहलाती है। कहाँ है तेरा प्रियतम? इन सूनी आँखों से तू किसे निहार रही है? वह इस संसार रूपी भयानक वन में तुझे अकेले ही छोड़कर कहाँ चला गया है? क्या वह तेरे हृदय में भी नहीं है कि तू कुछ धैर्य भी रख सके?

वाला तमे चालता ते चार दिनडा कह्या,

हांरे अमे एणी रे आसाए जोईने रह्या।

वाला अमे वचन तमारा ग्रह्या,

हवे ते अवध ऊपर दिनडा गया।।

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं।।४।।

मेरे प्रियतम! आपने गोकुल से मथुरा जाते समय मात्र चार दिन में ही वापस आने का वचन दिया था। इसी आशा के साथ हम सभी गोपियाँ आपकी बाट देखती रही हैं। हमने तो आपकी बातों पर विश्वास किया, किन्तु अब तो ४ दिन से अधिक समय बीत गया है। मैं पल-पल आपकी राह देखते हुए आपको पुकार रही हूँ। आप कब आँगे?

भावार्थ— चार दिन का तात्पर्य है— १. व्रज, २. रास, ३. अरब, और ४. श्री देवचन्द्र जी के तन से होने वाली लीला का समय। पाँचवें दिन में श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान होकर श्री राज जी को लीला करनी है। इसे ही प्रतिभासिकी लीला में चार दिन के बाद आने का वचन देना कहा गया है।

वाला मारा दिनडा आसोना आव्या,

हारे घर मेघलियो बारे रे सिधाव्या।

हारे वन वेलडिए रंग सोहाव्या,

पिउजी तमे एणे समे वृजडी कां न आव्या॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥५॥

मेरे धाम धनी! आश्विन का महीना आ गया है। अब बादल भी अपने घर चले गये हैं। वनों में अनेक रंगों की लतायें सुशोभित हो रही हैं। ऐसे मनोहर समय में भी आप ब्रज में क्यों नहीं आ रहे हैं? मैं विरह में निरन्तर आपको ही पुकार रही हूँ।

भावार्थ— षट्ऋतु की जिन चौपाइयों में ब्रज लीला का रूपक वर्णित किया गया है, उसमें श्री कृष्ण का तात्पर्य श्री राज जी से है तथा श्री इन्द्रावती जी ब्रज की गोपियों में से एक गोपी हैं, जो अपने प्रियतम को पाने के लिये

तड़प रही हैं।

तारतम ज्ञान के प्रकाश में जब संशय के बादल हट गये हैं, तो अटूट आस्था और विश्वास के हृदय रूपी आँगन में विरह के भावों की नयी-नयी लतायें उग आती हैं, जो अपने प्रियतम को धाम हृदय में बस जाने का निमन्त्रण दे रही होती हैं। यही इस चौपाई का मुख्य आशय है।

वाला मारा एक वार जुओ वनडू आवी,

हां रे चांदलिए जोत चढावी।

वेलडिए वनस्पति रे सोहावी,

एणे समे विरहणियो कां विलखावी॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥६॥

मेरे जीवन के आधार! एक बार तो इस वृन्दावन में आकर देखिए। अति सुन्दर चन्द्रमा की कितनी शीतल

चाँदनी छिटक रही है। इस चाँदनी में लताओं तथा पेड़-पौधों की शोभा अलौकिक ही दृष्टिगोचर हो रही है। इस मनोहर वेला में हम गोपियाँ आपके विरह में तड़प रही हैं। हमें बिलखाने से आपको क्या मिल रहा है? प्रियतम! मैं पल-पल आपको ही पुकार रही हूँ।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में पूर्णमासी का चन्द्रमा रूपी तारतम ज्ञान जगमगा रहा है। उसकी निर्मल चन्द्रिका श्रद्धा-विश्वास रूपी लताओं एवं वृक्षों को और अधिक शोभायमान बना रही है। ऐसे हृदय में प्रियतम का सिंहासन क्यों नहीं सजेगा?

प्रकरण ॥ १ ॥ चौपाई ॥ ६ ॥

हेमंत रुत (कार्तिक – मगसर) – राग मलार

हेमन्त ऋतु (कार्तिक, मार्गशीष, या अगहन)

वाला मारा हेमाले थी हेम रुत हाली,

ए तो वेरण आवी रे विरहणियो ऊपर चाली।

वृजडी वीटी रे लीघी वचे घाली,

पिउजी तमे हजिए कां बेठा आप झाली॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१॥

मेरे प्राण प्रियतम! यह हेमन्त ऋतु हमारी वैरी है, जो विरह में तड़पती हुई हम गोपियों के ऊपर प्रहार करने के लिये हिमालय से शीघ्रतापूर्वक आयी है। इसने सारे ब्रज मण्डल को चारों ओर से घेर लिया है। किन्तु आपने तो हमारे पास न आने की जिद ही पकड़ ली है। ऐसी निष्ठुरता क्यों? आप तुरन्त आइये। मैं निरन्तर आपकी

ही याद (पुकार) में खोयी हुई हूँ।

भावार्थ— शीतल हवाओं के झोंके जब शरीर में तीर की भाँति चुभते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह ऋतु विरह के घावों पर नमक छिड़क रही है। यही कारण है कि श्री इन्द्रावती जी को यह ऋतु वैरी के समान लगती है। इसलिये वे अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए कहती हैं कि मेरे धाम धनी! आप मुझे विलखते हुए देखकर भी दूर बैठे रहते हैं। आपका यह रूखापन किसलिये? क्या यही आपका पतिपना है? मेरे हृदय में आपके लिये सजा हुआ सिंहासन आपकी बाट देख रहा है और आप रूठे हुए की तरह चुपचाप बैठे रहते हैं, ऐसा क्यों? क्या आपको मेरी पथराई हुई सूजी आँखों को देखने में आनन्द आता है? यदि सचमुच ऐसा है तो आप अक्षरातीत ही क्यों कहलाते हैं?

रे विरही तमे विरहणियो ने कां न संभारो,

नंद कुंअर नेहडो छे जो तमारो।

वाला मारा दोष घणो रे अमारो,

पिउजी तमे एणी विधे अमने कां मारो॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥२॥

मेरे बिछुड़े प्रियतम! विरह की अग्नि में जलने वाली हम गोपियों की सुधि आप क्यों नहीं लेते हैं? नन्द के लाल! आपका भी हमारे प्रति प्रेम तो है ही। यद्यपि मेरे दोष बहुत अधिक हैं, फिर भी आप हमें इस प्रकार क्यों तड़पा रहे हैं? मैं सदा आपको ही पुकारती रहती हूँ।

भावार्थ— गोपियों तथा श्री कृष्ण के दृष्टान्त से श्री इन्द्रावती जी का कथन है कि आपके अन्दर भी हमारे लिये प्रेम है, तभी मैं भी आपके लिये तड़प रही हूँ। विरह भले ही एकतरफा हो, किन्तु गुप्त या प्रकट रूप से प्रेम

दोनों ही ओर से होता है।

वाला मारा कारतकियो अंगडा कापे,

नाहोलिया तारो नेहडो वाले मूने तापे।

वाला मूने गुण अंग इंद्रियो रे संतापे,

पिउजी विना दुखडा ते सहु मूने आपे॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥३॥

मेरे जीवन के आधार! इस कार्तिक मास में शीतल हवाओं के कारण मेरा शरीर काँप रहा है। हे प्रियतम! आपका प्रेम मुझे विरह की अग्नि में जला रहा है। मेरे इस त्रिगुणात्मक शरीर, अन्तःकरण, तथा इंद्रियों में विरह की भयंकर अग्नि जल रही है। आपके बिना मेरे इन अंगों में विरह का दुःख ही दुःख है। एकमात्र आप ही मेरे सर्वस्व हैं और मैं केवल आपको ही अपनी प्रेम भरी

पुकार से अपने हृदय मन्दिर में बसाना चाहती हूँ।

वाला मारा टाढली ते सहुने वाय,

हारे अम विरहणियो ने अगिन न माय।

ऊपर टाढो वावलियो धमण धमाय,

ए रुत मूने सूतडा सूल जगाय॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारुं॥४॥

मेरे आराध्य! यह ठण्डी हवा सभी को चुभती है। हम गोपियों के शरीर में विरह की इतनी अधिक अग्नि है कि वह समाती ही नहीं है। अत्यधिक शीतल हवा के झोंके धौंकनी की तरह हमारे विरह की अग्नि को और अधिक बढ़ा रहे हैं। यह ऋतु मेरे भूले हुए दुःखों के घाव ताजा कर रही है। अब मैं आपको बारम्बार पुकार रही हूँ।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती का आशय यह है कि मैं तो

पहले से ही अपने प्रियतम के विरह में दुःखी हूँ, किन्तु अत्यधिक शीतल हवा जब तीर की तरह चुभती है तो घाव पर नमक छिड़कने की तरह मेरी पीड़ा को और अधिक वैसे ही बढ़ा देती है, जैसे लोहार की धौंकनी आग की लपटों को और तेज कर देती है।

वाला महिनो मागसरियो मदमातो,

ते तो अमने मारसे रे जोनी जातो।

तारा विरहनी रेहेसे रे वेराट मां वातो,

अम ऊपर एम कां नाखी निघातो॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥५॥

मेरे धनी! संसार के लिये तो अगहन का यह महीना खुशियों से भरा हुआ है, किन्तु देखा जाये तो हम गोपियों के लिये यह इतना कष्टदायी प्रतीत हो रहा है कि

जैसे यह हमें मार ही देगा। आपके विरह में हमें बहुत दुःखी होना पड़ रहा है। इस प्रकार, यह बात संसार में इतिहास बनकर रह जायेगी। क्या इस प्रकार विरह में हमें तड़पाकर दुःखी करना आपको शोभा देता है? आपको ऐसा करने की क्या आवश्यकता थी?

भावार्थ— प्रत्येक ऋतु का सुख जहाँ सांसारिक लोगों के सुख का कारण होता है, वहीं प्रियतम के विरह में डूबे रहने वालों के लिये दुःखदायी होता है, क्योंकि प्रियतम के बिना उनके लिये किसी भी सुख का कोई महत्व नहीं होता। लौकिक सुख तो उन्हें चिढ़ाता हुआ सा प्रतीत होता है।

रे वाला मारा सियालो सुखणियो मागे,

पिउजीना सुखडा मां सारी रात जागे।

वालाजीने विलसे रे वड भागे,

अमने तो मंदिरियो मसांण थई लागे।।

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं।।६।।

मेरे प्रियतम! प्रत्येक सुहागिन की यही कामना होती है कि शरद ऋतु आ जाये, जिससे वह अपने प्रियतम के साथ सारी रात जागकर प्रेम का सुख ले। उससे बड़ा सौभाग्यशाली और कौन हो सकता है, जो साक्षात् आपके साथ प्रेम का आनन्द ले। यह तो मेरा दुर्भाग्य है, जो आपके विरह में मुझे आँसुओं की धारा बहानी पड़ रही है। मुझे तो यह चमचमाता हुआ घर भी श्मशान के समान कष्टदायी लग रहा है। मुझे तो केवल आप चाहिए। इसलिये मैं आपको ही दिन-रात पुकार रही हूँ।

प्रकरण ॥ २ ॥ चौपाई ॥ १२ ॥

शीत रुत – राग मलार

शीत (शिशिर) ऋतु (पौष, माघ)

वाला रुतडी आवी रे सीतलडी लूखी,

वेलडियो वन जाय रे सर्वे सूकी।

वसेके वली वाले रे उतरियो फूकी,

पिउजी तमे हजिए कां बेठा अमने मूकी॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१॥

गोपियाँ श्री कृष्ण जी से कहती हैं- हे प्रियतम!

अत्यधिक शुष्क शीत ऋतु आ गयी है। वन की सभी

लतायें और अन्य वनस्पतियाँ सूख गयी हैं। विशेष रूप से उत्तर दिशा से आने वाली शीतल हवाओं ने वनस्पतियों को जला सा दिया है। किन्तु हे प्रियतम! अभी तक हम गोपियों को छोड़कर आप मथुरा में क्यों बैठे हैं? एक गोपी की यही पुकार है— हे प्रियतम! मैं आपको दिन-रात याद कर रही हूँ। आ जाओ।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे धनी! इस शीत ऋतु की भयंकरता ने वनस्पतियों की हरियाली को सुखा दिया है। आप मुझे छोड़कर कब तक दूर रहेंगे? मैं पल-पल आपको ही पुकार रही हूँ। गुजराती भाषा में "अमने" शब्द का प्रयोग बहुवचन में होता है, जबकि एक वचन में "हूँ" शब्द का प्रयोग होता है। मूने, म्हारा, आदि शब्द इसी भाव में प्रयुक्त होते हैं।

नाहोलिया निस्वास धमण धमाय,

हारे मारा अंगडा मां अगिन न माय।

वाला तारी झालडियो केमे न झंपाय,

पिउजी तारो एवडो स्यो कोप केहेवाय॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥२॥

एक गोपी कहती है— हे धनी! आपके विरह में मेरी साँस धौंकनी (भाथी) की तरह चल रही है अर्थात् मैं बहुत तेज-तेज दुःख-भरी साँसे ले रही हूँ। मेरे हृदय में विरह की अग्नि इतनी अधिक है कि वह मेरे शरीर में समा ही नहीं पा रही है। आपके विरह की ज्वालायें तो अब किसी भी प्रकार से शान्त नहीं हो पा रही हैं। हे प्रियतम! आपके इस प्रकार के विचित्र और कठोर क्रोध के लिये क्या कहा जाये? मैं तो निरन्तर आपको ही याद कर रही हूँ।

भावार्थ- हूबहू इन्हीं भावों में श्री इन्द्रावती जी अपने मन की व्यथा श्री राज जी से प्रकट करती हैं कि मेरे प्राण वल्लभ! आप मुझे कब दर्शन देंगे? कहीं ऐसा तो नहीं है कि आप मुझसे कुछ अधिक ही नाराज होकर बैठे हैं? यद्यपि अक्षरातीत कभी भी नाराज नहीं होते, किन्तु इस प्रकार का कथन श्री इन्द्रावती जी ने व्यंग्यात्मक हँसी के भावों में किया है।

वाला मारा पोष महिनो रे आव्यो,

हारे अम दुखणियो ने दुख पूरा लाव्यो।

वेरीडो अम ऊपर आवीने झंपाव्यो,

हारे मारुं चीरी अंग मीठडे भराव्यो॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारुं॥३॥

एक गोपी कहती है- मेरे प्रियतम कन्हैया! यह पूस (पौष) का महीना हम दुखियारी गोपियों के लिये बहुत ही अधिक दुःख का उपहार लेकर आया है। ऐसा लगता है कि यह ऋतु वैरी के रूप में हमारे ऊपर कूद पड़ी है। इसने मेरे शरीर को चीरकर उसमें नमक भर दिया है। अब आपकी यादों में डूबे रहने के अतिरिक्त मेरे पास कोई भी चारा नहीं है।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं- मेरे प्राण प्रियतम! जिस प्रकार शरीर को चीरकर उसमें नमक भरने पर बहुत पीड़ा होती है, उसी प्रकार यह पूस का महीना मेरे विरह की पीड़ा को बहुत अधिक बढ़ा रहा है।

वाला टाढी अगिननों वावलियो वाय,

नीला टली सूकीने भाखरियो थाय।

पान फूल फल सर्वे झरी जाय,

वाला अमे ए रुत केमे न खमाय॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥४॥

एक गोपी कहती है— मेरे प्रियतम! ठण्डी हवाओं के झोंके अग्नि के समान कष्टकारी लगते हैं। हरियाली सूखकर पापड़ (सूखी रोटी) की तरह हो गयी है। वृक्षों के पत्ते तथा फल-फूल सभी झड़कर गिर गये हैं। हमें यह ऋतु किसी भी प्रकार से सहन नहीं होती है।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं— मेरे धाम धनी! शीतल हवाओं के झोंको ने जिस प्रकार वृक्षों को पत्तों, फूलों, तथा फलों से रहित कर दिया है और सारी हरियाली समाप्त कर दी है, उसी प्रकार आपके विरह की

आँधी ने मेरे जीवन में खिले हुए प्रेम और आनन्द के फूलों को नष्ट कर दिया है। जैसे सूखे रेगिस्तान में कहीं भी हरियाली के दर्शन नहीं होते, वैसे ही अब मेरे हृदय में आनन्द की हरितिमा (हरियाली) नाममात्र के लिये भी नहीं है। मेरे प्राणेश्वर! मैं निरन्तर आपको पुकार रही हूँ कि मेरे धाम हृदय में आकर विराजमान हो जाइए।

वाला मारा आव्यो रे महिनो माह,

जंगलियो वाले रे वनस्पति दाहे।

दाहनां दाधां रुखडियो केवा चरमाय,

स्याम विना सुंदरियो एम सोहाय॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥५॥

एक गोपी कहती है- मेरे प्रियतम कृष्ण! माघ का महीना आ गया है। अत्यधिक शीत के कारण वनों की वनस्पतियाँ अग्नि से जलने के समान सूखकर सिकुड़ गयी हैं। हम सभी गोपियाँ भी आपके बिना ऐसी ही हो गयी हैं। आपके विरह में डूबी हुई मैं आपको दिन-रात पुकार रही हूँ।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं- मेरे प्राण वल्लभ! माघ के इस शीतल माह में जिस तरह से वनस्पतियाँ सूखकर सिकुड़ गयी हैं, उसी प्रकार आपके विरह में मेरी भी बहुत दयनीय अवस्था हो गयी है। आपके बिना तो मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं है।

रे वाला मारे मंदिरिए आवी ने आरोग,

हांरे अम विरहणियो ना टालो रे विजोग।

हां रे सुंदर सेजडीनो आवी लेओ भोग,

एता सकल तमारो संजोग॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥६॥

एक गोपी कहती है— प्रिय कान्हा! तुम्हें मेरे घर आकर भोजन करना होगा, तभी हम गोपियों का विरह दूर हो सकेगा। मेरे घर में सुन्दर सेज्या बिछी हुई है, उस पर विश्राम करने का सुख लीजिए, किन्तु यह तो तभी सम्भव है, जब आपसे हमारी भेंट हो सके, अर्थात् आप मथुरा से चलकर पुनः गोकुल आयें। आपको मैं निरन्तर पुकार रही हूँ।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे धाम धनी! आप मेरे धाम हृदय में विराजमान हो जाइये तथा मेरे प्रेम

को स्वीकार कीजिए। मेरा प्रेम ही तो आपका आहार है। जब आप मेरे धाम हृदय की शय्या (अर्स दिल की सेज्या) पर विराजमान होकर मुझे दर्शन (दीदार) देंगे, तो मैं धन्य-धन्य हो जाऊँगी। मैं उस शुभ घड़ी की पल-पल बाट देख रही हूँ।

प्रकरण ॥ ३ ॥ चौपाई ॥ १८ ॥

वसंत रुत (फागुन, चैत्र) – राग मलार

वसन्त ऋतु (फाल्गुन, चैत्र)

श्री कृष्ण जी के गोकुल से मथुरा चले जाने के पश्चात् गोपियाँ असहाय हो जाती हैं और विरह में तड़पने लगती हैं। विरह के उन सुन्दर क्षणों को बारहमासी के इन सात प्रकरणों में दर्शाया गया है।

वाला मारा आवी रे रुतडी वसंत,

चंद्र मुख अमृत रस रे झरंत।

वाला वनडू मोरयूं रे कूपलियो करंत,

एणे समे न आवो तो आवे मारो अंत॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१॥

एक गोपी कहती है— मेरे प्रियतम! अति मनोहारिणी

वसन्त ऋतु आ गयी हैं। आकाश में सुन्दर चन्द्रमा जब अपनी चाँदनी बिखेरता है, तो ऐसा लगता है जैसे अमृत की वर्षा हो रही है। वनों की वनस्पतियों में नयी-नयी कोपलें निकल रही हैं। इस रमणीय वेला में यदि आप मथुरा छोड़कर मेरे पास नहीं आते हैं, तो निश्चित रूप से मेरी मृत्यु हो सकती है। मेरे धनी! आप आ जाइए! मैं आपको बार-बार पुकारते हुए आपकी बाट देख रही हूँ।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं— मेरे प्राण वल्लभ! वसन्त ऋतु का यह ऐसा स्वर्णिम समय है, जब स्वर्णिम आभा वाला चन्द्रमा अपनी सुनहरी किरणों से अमृत की वर्षा करते हुए सुशोभित हो रहा है। तरह-तरह के पेड़, पौधों, और लताओं में नयी-नयी कोपलें निकल रही हैं, तथा सर्वत्र फूलों की सुगन्धि फैली हुई है। इस मनोरम वातावरण (फिज़ा) में आपसे मिलने की तड़प इतनी

अधिक हो रही है कि यदि आप दर्शन नहीं देते हैं, तो मेरा प्राणान्त हो जाना निश्चित है। क्या आप यही दिन देखना चाहते हैं? आप इसी तरह कब तक अपनी पुकार कराते रहेंगे और मुझे विरह में तड़पाते रहेंगे।

एणे समे अबीर गुलाल उछलियां,

चोवा चंदन केसर कचोले भरिया।

नाहो नारी रमे रे फागणिए मलिया,

एणे समे अमें तो घणूं कलकलिया।।

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं।।२।।

गोपियाँ कहती हैं— फाल्गुन के इस महीने में सभी स्त्री—पुरुष मिलकर एक—दूसरे पर अबीर—गुलाल उछालते हैं तथा प्रेमपूर्वक होली खेलते हैं। वे कटोरे भर—भर कर

चोवा, चन्दन, तथा केशर को दूसरों पर फेंकते हैं। हे मनमोहन! कान्हा! तुम्हारे वियोग में हम सभी गोपियाँ बहुत अधिक बिलख रही हैं।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं— मेरे प्राणेश्वर अक्षरातीत! आप मुझे यह कैसा दृश्य दिखा रहे हैं? एक तरफ तो संसार के लोग प्रेम में भरकर एक-दूसरे पर चोवा, चन्दन, केशर, अबीर, और गुलाल उछाल रहे हैं, तथा रंगों से लाल करके प्रेम एवं आनन्द की गहराइयों में डूबने का प्रयास कर रहे हैं। दूसरी तरफ एक मैं हूँ, जिसका भाग्य ही रूठा हुआ है। क्या सदा आँसू बहाते रहना ही मेरी नियति है? क्या आप भी इस दृश्य को देखकर आनन्दित हो रहे हैं?

वाला वन फागणियो रे उछाले,

पंखीडा करे रे कलोल बेठा माले।

हारे अम विरहणियो ना चितडा चाले,

आंगणडे ऊभियो पंथडो निहाले॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥३॥

गोपियाँ कहती हैं- कान्हा! इस फाल्गुन के महीने में वृक्षों की डालियाँ झूम रही हैं। पक्षी अपने घोंसलों में बैठकर किलोल (आनन्द, चहचहा) कर रहे हैं। इस मोहक दृश्य को देखकर हम गोपियाँ विरह के दुःख से व्याकुल हो रही हैं और आँगन में खड़ी होकर आपके आने की प्रतीक्षा कर रही हैं।

भावार्थ- फाल्गुन के महीने में झूमते हुए वृक्षों तथा क्रीड़ा करते हुए पक्षियों को देखकर श्री इन्द्रावती जी कहती हैं- मेरे धाम धनी! आपके दर्शन की प्रतीक्षा में

विरह के आँसू बहाते-बहाते एक लम्बा समय बीत गया है। आपका दर्शन न हो पाने से मेरा चित्त इतना व्याकुल हो गया है कि वह यही सोचता है कि मुझसे अधिक भाग्यशाली तो ये पशु-पक्षी हैं, जो इस फाल्गुन माह में आनन्दमग्न हैं।

वाला वनडु कोल्युं कामनी पामी करार,

पसु पंखी हरख्या पाडे रे पुकार।

वाला विरह भाजो रे विरहणियो ना आवार,

एणे समे ना आवो केम प्राणना आधार॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारुं॥४॥

एक गोपी कहती है- मेरे प्राणों के आधार! वन के वृक्षों में निकलने वाली नयी-नयी कोपलों को देखकर सुहागिन स्त्रियाँ प्रसन्नता से फूली नहीं समातीं। पशु-

पक्षी भी उल्लास में तरह-तरह की मधुर ध्वनियाँ निकाल रहे हैं, किन्तु इस मनोहर वेला में भी आपका न होना हमें और अधिक दुःखी कर रहा है। आप इस समय आकर क्यों नहीं हम गोपियों के विरह को दूर कर देते हैं?

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी अपने धाम धनी से इन्हीं भावों को व्यक्त करती हैं और एकमात्र यही कामना करती हैं कि शीघ्र अतिशीघ्र उनका प्रियतम उनके धाम हृदय में आकर विराजमान हो जाये।

वाला मारा चैतरिए एणे मास,

पिउजी सो करता विनोद घणा हांस।

वन मांहेँ विविध पेरे रे विलास,

ते अमे अहनिस नाखूं छूं निस्वास।।

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं।।५।।

एक गोपी कहती है- मेरे प्राण प्रियतम! इस चैत्र महीने में हम गोपियाँ आपके साथ अनेक प्रकार के हास-परिहास किया करती थीं, इसके अतिरिक्त वन में अनेक प्रकार की आनन्दमयी क्रीड़ाएँ किया करती थीं। किन्तु आपके मथुरा चले जाने के कारण आज हमें आपके विरह में दुःख की गर्म-गर्म साँसे छोड़नी पड़ रही हैं।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे मेरे आराध्य! कभी ऐसा भी सौभाग्यशाली समय था, जब नवतनपुरी में मैं इस चैत्र महीने में आपके साथ तरह-तरह की प्रेम भरी बातें किया करती थी और आपके साथ चर्चा आदि में लम्बा समय व्यतीत किया करती थी, किन्तु आज दुर्भाग्य से विरह के आँसुओं में जी रही हूँ।

वाला मूने ए दिन केम करी जाय,

पिउजी विना खिण वरसां सो थाए।

वाला मूने विलखंतां रैणी विहाय,

पिउजी विना ए दुख केने न केहेवाय॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥६॥

मेरे प्राण वल्लभ! मैं विरह के इन दिनों को कैसे बिताऊँ? आपके बिना एक-एक क्षण सौ वर्षों के समान लम्बा लग रहा है। आपकी याद में बिलखते-बिलखते सारी रात बीत जाती है। आपके अतिरिक्त अपने मन की इस पीड़ा को मैं किसी से कह भी तो नहीं सकती। मैं आपके विरह में निरन्तर आपको ही पुकार रही हूँ।

विशेष- उपरोक्त चौपाई गोपियों एवं श्री इन्द्रावती जी के लिये समान रूप से घटित होती है।

प्रकरण ॥ ४ ॥ चौपाई ॥ २४ ॥

ग्रीखम रुत (वैसाख – जेठ) – राग मलार

ग्रीष्म ऋतु (वैशाख, ज्येष्ठ)

वाला मारा आवी रे रुतडी ग्रीखम,

अमृत रस लावी रे फल उत्तम।

वन फल पाकीने थया रे नरम,

वाला तमे एणे समे न आवो केम॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१॥

एक गोपी कहती है— मेरे प्यारे कन्हैया! इस समय मनोहर ग्रीष्म ऋतु आ गयी है। फलों में अमृत के समान अति उत्तम मधुर (मीठा) रस भर गया है। वनों में फल पक कर बहुत ही कोमल हो गये हैं। इस सुन्दर समय में भी आप हमारे पास क्यों नहीं आ जाते हैं? मैं पल-पल आपको ही याद कर रही हूँ।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं— इस मनोहर ग्रीष्म ऋतु में अमृत की तरह मीठे लगने वाले फलों से वृक्ष लदे हुए हैं। ये वृक्ष मेरा उपहास सा करते हुए पूछ रहे हैं— इन्द्रावती! तू तो विरह में सूखकर काँटा हो गयी है, किन्तु यह तो बताओ कि प्रेम के अनन्त सागर कहे जाने वाले तुम्हारे प्रियतम अक्षरातीत कहाँ हैं? यह उनकी कैसी निष्ठुरता है, जो तुम्हें प्रेम की एक बूँद भी देना नहीं चाहते और मिलन की आस में केवल तड़पाते रहते हैं?

वाला मारा त्रट जमुनाना वृंदावन,

हारे टाढी छांहेडी तले रे कदम।

पिउजी इहां देता रे पावलिए पदम,

ते अमे विलखूं छू वालाने वदन॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥२॥

एक गोपी कहती है— मेरे प्रिय कान्हा! वृन्दावन में यमुना के किनारे कदम्ब के वृक्ष की शीतल छाया में तुम्हारे चरण कमल पड़ा करते थे, अर्थात् तुम वहाँ विहार करते हुए खड़े रहा करते थे। तुम्हारी उस रूप माधुरी को याद करके हम गोपियाँ विलख रही हैं कि अब मथुरा से तुम कब आओगे, ताकि हम जी भरकर तुम्हारे मुख मण्डल को निहार सकें?

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं— मेरे प्रियतम! नवतनपुरी में खीजड़ा वृक्ष की शीतल छाया में आपकी सान्निध्यता में जिस प्रेम का अनुभव होता था, उसकी मुझे बहुत ही याद सता रही है। अतीत में गुजरी हुई घटनायें रह-रहकर मेरी विरह-पीड़ा को और अधिक बढ़ा रही हैं। मैं केवल यही चाहती हूँ कि शीघ्र से शीघ्र आपका मधुर दर्शन कर सकूँ।

विशेष- प्रेम की गहनतम् अवस्था में "आप" के स्थान पर "तू" का प्रयोग होता है, जिसके यथार्थ भावों का अनुवाद संसार की किसी भी भाषा में किसी भी व्यक्ति के द्वारा नहीं हो सकता।

वैसाख फूल्यो रे वेलडिए वेहेकार,

भमरा मदया करे रे गुंजार।

पंखीडा अनेक कला रे अपार,

वाला वन विलस्या तणी आवार।

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारुं॥३॥

एक गोपी कहती है- प्रिय कान्हा! वैशाख के इस महीने में लताओं में खिले हुए सुन्दर फूल चारों ओर अपनी सुगन्धि फैला रहे हैं। फूलों के पराग से मस्त (अति आनन्दित) होकर भौरै गुँजार कर रहे हैं। पक्षीगण अनेक

प्रकार की कलाओं से तरह-तरह की अनन्त क्रीड़ायेँ कर रहे हैं। ऐसे मनोहर समय में मेरी यही इच्छा हो रही है कि काश! तुम यहाँ होते और मैं तुम्हारे साथ वन में विहार करती।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे प्राणेश्वर! लताओं के फूलों पर मँडराने वाले ये भौरें अपनी गूँज से यही बात दर्शाना चाह रहे हैं कि ये लतायेँ अपने प्रेमी वृक्ष से लिपटकर प्रेम का आनन्द प्राप्त कर चुकी हैं, जिसके फलस्वरूप ये महकते हुए फूल दिखायी दे रहे हैं। किन्तु इन्द्रावती! एक तू है, जो अपने प्रियतम का प्रेम और मधुर मिलन पाने के लिये निरन्तर तड़प रही है? आखिर तेरी चाह कब पूरी होगी? पक्षियों के कलख भौरों के सन्देश को सारे संसार में फैला देना चाहते हैं। मेरे सर्वस्व! क्या यही दिन दिखाने के लिये आपने मुझे इस

संसार में रख रखा है?

वाला रवि तपे रे अंबरियो निरमल,

पिउजी कारण वास्या जल रे सीतल।

वदन देखाडो रे वालैया सकोमल,

पिउ जी अमे पंथडो निहालूं पल पल॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥४॥

गोपियाँ कहती हैं— चित्तचोर प्रिय कान्हा! बादलों से रहित आकाश में सूर्य अपने तेज से तप रहा है। तुम्हारे लिये हमने ठण्डा और सुगन्धित जल रखा हुआ है। तुम अपने अति कोमल, सुन्दर मुखारविन्द को दिखा दो। हम गोपियाँ पल-पल तुम्हारे आने की राह देख रही हैं।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे धाम धनी! आपके तारतम ज्ञान का तेज सूर्य के समान अपनी

किरणों को सारे संसार में फैला रहा है। उसके प्रकाश में मैंने आपको समर्पित करने के लिये शुद्ध प्रेम रूपी जल रखा हुआ है। आप उसे कब स्वीकार करेंगे? कब मुझे दर्शन देंगे और कब मेरे धाम हृदय में विराजमान होंगे? उस मधुर वेला के लिये मैं पल-पल तड़पते हुए प्रतीक्षा कर रही हूँ।

वाला वनमां मेवो रे महिनो जेठ सार,

एणे समे आवो रे नंदना कुमार।

पिउजी तमे सदा रे सुखना दातार,

वृज वधु विलखती पाडे रे पुकार॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारुं॥५॥

गोपियाँ कहती हैं— मन को मोहित करने वाले प्रिय नन्दलाल! इस ज्येष्ठ के महीने में वनों में फलों तथा मेवों

की बहार है। ऐसे रमणीय समय में तुम मथुरा से लौटकर आ जाओ। तुम तो हमेशा से ही हमें सुख देते आये हो। अब तुम्हें क्या हो गया है जो इस प्रकार का रूखापन दिखा रहे हो? व्रज की हम गोपियाँ रो-रोकर तुम्हें पुकार रही हैं। प्रिय! आ जाओ, आ जाओ।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं— मेरे प्राण प्रियतम अक्षरातीत! आपके तारतम ज्ञान को आत्मसात् करने का फल यही निकला है कि आपको पा लेने की मेरे मन में प्रबल आकांक्षा हो गयी है। इसी लक्ष्य को पाने के लिये मैं अब तक बिलख-बिलख कर तड़पती रही हूँ। आप तो अखण्ड सुख को देने वाले कहे जाते हैं, किन्तु मुझे इस प्रकार तड़पाकर विरह का कष्ट क्यों दे रहे हैं? शीघ्र आकर मेरे धाम हृदय में विराजमान क्यों नहीं हो जाते?

सखियो तारा सुखडा संभारी ने रुए,

हवे अम विजोगणियों ने कोण आवी जुए।

पिउजी विना आंसूडा ते कोण आवी लुए,

वाला पछे आवसोसूं अममुए॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥६॥

गोपियाँ कहती हैं— प्रिय कन्हैया! हम सभी गोपियाँ आपके साथ होने वाली लीलाओं के सुखों को याद करके रोया करती हैं। आपके विरह में तड़पने वाली हम गोपियों की सुधि लेने (देखने) वाला अब कौन है? तुम्हारे बिना और कौन है, जो हमारे आँसुओं को पोंछे? क्या जब हम मर जायेंगी, तब तुम आओगे?

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं— मेरे प्रियतम! आपने अपने तारतम ज्ञान से परमधाम की शोभा और लीला का बोध करा दिया है। उसका प्रत्यक्ष अनुभव

करने की मेरे हृदय में प्रबल चाहना है। आप ही मेरे सर्वस्व हैं। मेरे विरह के आँसुओं की परवाह करने वाला आपके अतिरिक्त भला और कौन हो सकता है? किन्तु आप यह भी याद रखिये कि यदि आपने दर्शन देने में देर कर दी तो मेरा यह शरीर इस संसार में नहीं रह पायेगा? क्या आप ऐसा चाहते हैं कि वैसी घड़ी आ जाये? यदि नहीं, तो अभी मेरे सामने आ जाइए, आ जाइए।

प्रकरण ॥ ५ ॥ चौपाई ॥ ३० ॥

वरखा रूत – राग मलार

वर्षा ऋतु (आषाढ, सावन)

पावसियो आव्यो रे वरखा रूत मांहे,

भोमलडी ढांकी रे वादलिए छाहे।

अंबरियो गरजे रे वीजलडी वा वाय,

पिउजी विना मारे रे अमने घाए॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१॥

एक गोपी कहती है— इस रमणीय वर्षा ऋतु में चारों ओर रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही है। बादलों ने अपनी छाया से पृथ्वी को ढक लिया है। बादलों से भरे आकाश में बिजली की गर्जना हो रही है। वह अपनी विलक्षण शोभा के साथ चमक रही है। हवा के झोंके बह रहे हैं, जो आपके वियोग में होने वाले हमारे घावों को और अधिक

बढ़ा रहे हैं। प्रियतम! मैं बारम्बार आपको पुकार रही हूँ।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे धाम धनी! आकाश में छाये हुए ये बादल मुझसे पूछ रहे हैं कि हम तो गरज रहे हैं, बरस रहे हैं, तथा अपनी विद्युत के प्रकाश को फैला भी रहे हैं। हे इन्द्रावती! तुम्हारे हृदय में विरह के बादल तो अवश्य मँडरा रहे हैं, किन्तु उनसे धनी के दीदार एवं प्रेम रूपी जल की वर्षा कब होगी? कब तू डिण्डिम घोष के साथ सुन्दरसाथ को यह बता सकेगी कि मैंने अपने आराध्य, अपने प्राणेश्वर को पा लिया है? क्या आपकी प्रेम भरी एक दृष्टि (नजर) मेरी इस चाहत को पूर्ण करेगी?

एणे समे भेला सहु घर वारी,

अधखिण अलगां न थाए नर नारी।

परदेस होय ते पण आवेरे संभारी,

पिउजी ऐवी केही अप्राप्त अमारी॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥२॥

गोपियाँ कहती हैं— प्रिय कान्हा! इस रमणीय वेला में घर के सभी स्त्री-पुरुष इकट्ठा हो जाते हैं और आधे क्षण के लिये भी एक-दूसरे से अलग नहीं होते। जो विदेश में रहते हैं, वे भी इस सुन्दर समय को याद कर अपने घर आ जाते हैं, किन्तु नन्द कुमार! तुम तो ऐसे निष्ठुर हो गये हो कि मथुरा छोड़कर व्रज में आना ही नहीं चाहते। हमारा यह कैसा दुर्भाग्य है कि किसी तरह से हमें तुम्हारी झलक भी नहीं मिल पा रही है।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे जीवन के

आधार! प्रेमाग्नि को बढ़ाने वाली इस मनोहारिणी वर्षा ऋतु में जब सांसारिक स्त्री-पुरुष भी एक-दूसरे के बिना रह नहीं पाते, तो आप अब तक मुझसे दूर क्यों हैं? मुझे दर्शन क्यों नहीं देते ? आप तो सकल गुण निधान अक्षरातीत हैं। आपके विरह में तड़पते-तड़पते इतना लम्बा समय बीत गया, किन्तु अभी तक मुझे दर्शन देने के लिये आपका हृदय जरा भी नहीं पिघला। क्या इसी रूखे प्रेम के आधार पर आप प्रेम के सागर कहलाते हैं?

मेघलियो आवीने असाढ धडूके,

सेरडियो सामसामी रे ढलूके।

मोरलिया कोईलडी रे टहूके,

एणे समे कंथ कामनियो ने केम मूके॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥३॥

गोपियाँ कहती हैं— हे प्रिय! आषाढ़ का महीना आ गया है। आकाश में चारों ओर बादल छा गये हैं और गर्जना कर रहे हैं। बादलों के बरसने से आमने-सामने पानी की धारायें बह रही हैं। मोर और कोयल उमंग में भरकर अति मधुर ध्वनि (टहुंकार) कर रहे हैं। ऐसे मनोरम समय में आपने हमें कैसे छोड़ रखा है?

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे प्रियतम ! आषाढ़ के महीने में बादलों का बरसना तथा गर्जना करना बहुत ही मनमोहक होता है। ऐसे समय में यदि मोर नाचने लगे, मधुर स्वर में बोलने लगे, तथा कोयल भी उसी मार्ग का अवलम्बन करे तो वातावरण में प्रेम-लीला की भूमिका तैयार हो जाती है, किन्तु जब आप प्रियतम ही साथ नहीं हैं तो मेरे लिये यह स्थिति बहुत पीड़ादायक हो गयी है। अपनी विरह-व्यथा को मैं किसी

से कैसे कहूँ? उसे तो मैं मात्र अपने आँसुओं से ही प्रकट कर सकती हूँ।

वाला मारा भोमलडी रे नीलाणी,

मेघलियो वली वली सींचे पाणी।

वीजलडी चमके आभण माणी,

रे पिउजी तमे एणे समे वेदना न जाणी॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूँ॥४॥

एक गोपी कहती है— मेरे प्रिय कन्हैया! वर्षा की ऋतु में सारी धरती पेड़-पौधों से हरी-भरी दिखायी दे रही है। बादलों से बार-बार पानी बरस रहा है। आकाश में विद्युत चमक रही है। इतने सुन्दर वातावरण में मैं विरह की अग्नि में जल रही हूँ, किन्तु आप मेरे विरह की पीड़ा के प्रति जरा भी ध्यान नहीं दे रहे हैं। आपका यह

रूखापन आपकी गरिमा के विपरीत है।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे आराध्य ! इस ऋतु में यह जड़ धरती हरियाली से भरपूर है, जबकि परमधाम की ब्रह्मात्मा होते हुए भी मेरे जीवन में सूखे रेगिस्तान की तरह सूनापन है, क्योंकि आप मुझे दिखायी ही नहीं दे रहे हैं। वर्षा के जल से पृथ्वी तो हरी-भरी हो सकती है, किन्तु आपके प्रेम से वंचित होने पर भला मेरे जीवन में प्रसन्नता कहाँ से आ सकती है? बादलों की चमक से प्रकृति अपना ऐश्वर्य तो दिखा रही है, किन्तु आपके वियोग में मेरा मुरझाया हुआ चेहरा हमेशा आँसुओं से ही भीगा रहता है। क्या आप सर्वज्ञ होकर भी मेरे विरह की पीड़ा को नहीं समझ रहे हैं? मुझे विश्वास है कि आप मुझे बिलखते देखकर अवश्य पिघलेंगे।

रे वाला जी श्रावणियो सलसलियो,

आंभलियो आवीने भोमे लडसडियो।

चहु दिस चमके गरजे गलियो,

पिउडा तूं हजिए कां अमने न मलियो॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥५॥

गोपियाँ कहती हैं— प्रिय कान्हा! सावन के इस महीने में अत्यधिक वर्षा के कारण पृथ्वी बहुत गीली हो रही है। बादल भी नीचे आकर धरती को स्पर्श करते हुए प्रतीत हो रहे हैं। चारों दिशाओं में बादल गरज रहे हैं तथा चमक रहे हैं। उनका प्रकाश गलियों में दिखायी पड़ रहा है। ऐसे मनोहर समय में भी आप हम गोपियों से ब्रज में आकर क्यों नहीं मिल रहे हैं?

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं— मेरे सर्वस्व! इस सावन (श्रावण) के महीने में भूरे रंग के जड़ बादल अपने

जल से पृथ्वी को गीला कर देते हैं, किन्तु सौन्दर्य के सागर कहे जाने वाले आप अक्षरातीत अपने प्रेमरूपी जल की एक बूँद भी मुझे देना नहीं चाहते। मेरा हृदय तो सूखे रेगिस्तान की तरह अभी भी वीरान हुआ पड़ा है। यदि बहुत ऊँचाई के बादल पृथ्वी के निकट आकर स्पर्श करने की स्थिति में आ सकते हैं, अपने विद्युतजन्य प्रकाश से चारों दिशाओं को प्रकाशित कर सकते हैं, तथा अपनी उपस्थिति को अपनी गर्जना के द्वारा दर्शा सकते हैं, तो शाहरग से निकट कहलाने का ढिंढोरा पीटने वाले आप अक्षरातीत मेरे हृदय में या मेरे सम्मुख आकर दर्शन देने की लीला क्यों नहीं करते? मेरे हृदय में आपके विराजमान होने के पश्चात् मुझे किसी को भी यह बताने की आवश्यकता नहीं रहेगी कि मैं निर्दोष हूँ और मेरे ऊपर लगाये गये सारे आरोप निराधार हैं। मेरे तन से

होने वाली अलौकिक ब्रह्मलीला सारे संसार में डिण्डिम घोष (डंके की चोट) के साथ मेरी निष्कलंकता का प्रमाण दे देगी।

पिउजी तमे पेहेली कां प्रीतडी देखाडी,

माहेला मंदिरियो कां दीधां रे उघाडी।

पिउजी तमे अनेक रंगे रमाडी,

हवे तो लई आसमाने भोम पछाडी॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥६॥

गोपियाँ कहती हैं— प्रिय कान्हा! पहले आपने हमसे इतना प्रेम ही क्यों किया? अपने प्रेम के द्वारा आपने हमारे मन-मन्दिर का द्वार खोल दिया अर्थात् उसमें आकर बस गये। हमारे साथ आपने अनेक प्रकार की आनन्दमयी लीलायें की। अब आप मथुरा में रहने लगे हैं

और हमें विरह की प्रचण्ड अग्नि में जला रहे हैं। जिस प्रकार किसी को आकाश से धरती पर पटका जाता है, आपने भी हमारे साथ ऐसा ही व्यवहार किया है। अब आप ही बताइये, हम कहाँ जाएँ और क्या करें?

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं- मेरे सर्वस्व! आपने अपने तारतम ज्ञान द्वारा इस बात की पहचान करा दी है कि मैं परमधाम में अनादि काल से आपकी प्रेममयी लीला में सहभागिनी रही हूँ। आपने मुझे इस बात का भी अनुभव करा दिया है कि आप श्री श्यामा जी (देवचन्द्र जी) के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला कर रहे हैं। पहचान देने के पश्चात् आपने मुझे विरह की धधकती हुई ज्वालाओं के बीच फेंक दिया। यदि आपको ऐसा ही करना था, तो आपने मुझे अपनी और अपने परमधाम की पहचान ही क्यों दी? आपका यह व्यवहार

तो आकाश से पृथ्वी पर पटकने के समान है। क्या आपका यही न्याय है? क्या इसी प्रकार का निष्ठुर व्यवहार करके आप सकल गुण निधान, सर्व शक्तिमान, दया, प्रेम, करुणा, आनन्द, और एकत्व का अनन्त सागर कहलाने का दावा करेंगे?

प्रकरण ॥ ६ ॥ चौपाई ॥ ३६ ॥

बारैमासनो कलस – राग मलार

बारह मासी का कलस (कलश)

पूर्वोक्त ६ प्रकरणों में दर्शाये गये तथ्यों का संक्षिप्तीकरण ही बारहमासी का कलश (मुकुट रूप शोभा) कहलाता है। इस प्रकरण में रूपक अलंकार के माध्यम से बाल बाई को उद्धव, बिहारी जी को अक्रूर एवं यदुराय, श्री देवचन्द्र जी को नन्द कुँवर के नाम से दर्शाया गया है। सुन्दरसाथ का स्थान गोपियों ने लिया है। इनके प्रतिनिधि के रूप में श्री इन्द्रावती जी अपने मनोभावों को व्यक्त कर रही हैं।

वाला मारा खटरुतना बारे मास,

हां रे तेना अहनिस त्रण से ने साठ।

वाला तारी रोई रोई जोई में वाट,

अम ऊपर एवडो कोप कीधा स्या माट।।

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं।।१।।

एक गोपी कहती है— मेरे प्राण प्रियतम! एक वर्ष में छः ऋतुओं के बारह महीने होते हैं। उनके ३६० दिन और रात होते हैं। इनमें मैंने रो-रोकर आपके आने की बाट देखी। आप हमसे इतना क्रोध (नाराजगी) क्यों दिखाते हैं? मैं निरन्तर आपको ही पुकार रही हूँ।

भावार्थ— मेरे प्राणवल्लभ! आपके विरह में मैंने वर्षों का समय रो-रोकर व्यतीत किया है, किन्तु अभी तक मुझे आपका वह मधुर दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है, जिसकी मुझे आकांक्षा है। आप मेरे प्रति इतने रूखे क्यों हो गये हैं?

वाला मारा हुती रे मोटी तारी आस,

जाण्युं अमने मूकसे नहीं रे निरास।

ते तो तमे मोकल्यो तमारो खवास,

तेणे आवी वछोडया सांणसिए मास॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥२॥

एक गोपी कहती है- मेरे प्रिय कान्हा! मुझे तुम्हारे ऊपर पूर्ण विश्वास था और मैं यह जानती थी कि तुम मुझे निराश नहीं करोगे, किन्तु तुमने अपने विशेष दूत के रूप में जिस उद्धव को हमारे पास भेजा था, उसने तो ब्रज में आकर अपने वचनों की सँड़सी से हमारे शरीर का माँस ही नोच लिया है। (उद्धव जी ने गोपियों से कहा था कि श्री कृष्ण जी को भूलकर निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापक परमात्मा का ध्यान करो।)

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे जीवन के आधार! जब आपने सद्गुरु श्री देवचन्द्र जी के पञ्चभौतिक तन का परित्याग किया, तो बाल बाई जी ने यह प्रचारित करना प्रारम्भ कर दिया कि गुरुपुत्र होने से बिहारी जी ही गुरुगादी के अधिकारी होने चाहिए। उनकी यह बात सबके लिये बहुत ही कष्टकारी थी, क्योंकि इस विचारधारा से तो आत्मा के अक्षरातीत से अनादि एवं अखण्ड सम्बन्ध होने की बात ही नगण्य हो जाती है, और यही बात सामने आती है कि जो गादी पर विराजमान होता है वही अक्षरातीत का स्वरूप होता है।

रे वाला भलुं थयुं रे भ्रांतडी भागी,

हारे तारे संदेसडे अमे जागी।

हारे एणे वचने रुदे आग लागी,

हवे अमे जाण्युं चोकस अमने त्यागी॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारुं॥३॥

गोपियाँ कहती हैं— प्रिय कन्हैया! यह अच्छा हुआ कि हमारा संशय दूर हो गया है। उद्धव के हाथ भिजवाये हुए तुम्हारे सन्देशों से हम सावचेत हो गयी हैं। तुम्हारे सन्देश से तो हमारे हृदय में दुःख की ज्वालायें धधक रही हैं। हम सब अब अच्छी तरह से जान गयी हैं कि तुमने हमें अब त्याग दिया है तथा अन्य (मथुरावासिनी नारियों) के प्रति आकर्षित हो गये हो।

(गोपियाँ उद्धव के द्वारा लाये हुए पत्र को पढ़ नहीं सकी थीं, क्योंकि उन्होंने अत्यधिक भावुकता में उस पत्र को

टुकड़े-टुकड़े करके इस आशय से बाँट लिया कि यह मेरा भाग है। उसमें लिखी हुई बातों से उन्हें कोई सरोकार ही नहीं था। उनकी इस नादानी भरी भावुकता को देखकर जब उद्धव ने निराकार परमात्मा की प्राप्ति के लिये योग-साधना का उपदेश दिया, तो वे बिफर पड़ीं और उलाहना के भावों में अपने व्यंग्यात्मक शब्दों से ऐसा कहने लगीं कि लगता है श्री कृष्ण हमें छोड़कर मथुरावासिनी रूपसियों के प्रेम में आसक्त हो गये हैं , तभी उन्होंने उद्धव से इस प्रकार की उल्टी बातों का संदेश भिजवाया है।)

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे प्राण प्रियतम! जब बिहारी जी मेरे पास आपका सन्देश लेकर आये और उन्होंने यह कहा कि मिहिरराज ! सद्गुरु महाराज तो तुम्हें जरा भी याद नहीं करते और न तुम्हें

चाहते हैं, तो कुछ समय के लिये मैं भी अचम्भित सी रह गयी कि क्या सचमुच में ऐसा हो सकता है? क्या मेरे आराध्य, मेरे सर्वस्व, मुझे छोड़ सकते हैं? क्या सद्गुरु महाराज आत्मिक सम्बन्ध के ऊपर लौकिक सम्बन्ध को वरीयता दे सकते हैं? मैं तो अब तक यही मानती रही हूँ कि मेरा और आपका अनादि काल से अटूट सम्बन्ध है और अनन्त काल तक रहेगा।

रे ऊधव तूं भली रे वधामणी लाव्यो,

अमारे काजे सूली ने साणसियो लई आव्यो।

ऊधव तें तो अक्रूर पर इंडू रे चढाव्यो,

ऊधव तें दुखडा घणूंज देखाडयो॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥४॥

गोपियाँ व्यंग्यपूर्वक कहती हैं- हे उद्धव! तू तो हमारे लिये अच्छी बधाई लाया है। तू ज्ञान की पिटारी के रूप में हमारे लिये फाँसी की सँडसी लेकर आया है। हमारे कन्हैया को ब्रज से मथुरा ले जाकर भी अक्रूर जी ने हमें उतना दुःखी नहीं किया , जितना तुमने अपने निराकारवाद के भाषण से किया है। तुम्हारा यह प्रवचनरूपी कलश अक्रूर के कार्य से अधिक कष्टकारी है। उद्धव! निश्चय ही तुम्हारे मर्मभेदी वचनों ने हमें बहुत व्यथित किया है।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे बाल बाई जी! आप यह शुभ सूचना लेकर आयी हैं कि मुझे सद्गुरु महाराज ने बुलाया है, किन्तु यह मेरे लिये फाँसी की सँडसी के समान कष्टकारी है। आपका यह सन्देश बिहारी जी के लाये सन्देश से भी अधिक दुःखदायी है,

क्योंकि उन्होंने तो केवल इतना ही कहा था कि सद्गुरु महाराज का स्वास्थ्य कुछ खराब है और उन्होंने अम्बर, कस्तूरी मँगवायी है, किन्तु आपने तो यह स्पष्ट रूप से बता दिया है कि सद्गुरु महाराज मेरे न आने से बहुत दुःखी हो रहे हैं। मेरे कारण सद्गुरु महाराज का दुःखी होना असहनीय है।

रे ऊधवडा तूं एटलूं जाण निरधार,

ऊधव तूने नथी रे बीक करतार।

एणी मते पामीस नहीं तूं पार,

तू पण तारा धणीसो विछडीस आवार॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥५॥

गोपियाँ कहती हैं— हे उद्धव! निश्चित रूप से तुम यह जान लो कि तुम्हें परमात्मा का जरा भी डर नहीं है। इस

प्रकार की बुद्धि से तू पार नहीं पा सकेगा, अर्थात् तुझे शान्ति नहीं मिल सकेगी। इस बार देख लेना, तुझे भी अपने आराध्य से बिछुड़ना पड़ेगा।

(इस चौपाई के चौथे चरण में "धनी" का भाव श्री कृष्ण जी से लिया जायेगा। यद्यपि उद्धव निराकार-निर्गुण परमात्मा को ही मानते थे, और श्री कृष्ण उनके लिये मात्र घनिष्ठ मित्र थे, परमात्मा नहीं, किन्तु गोपियों ने अपने भाव से श्री कृष्ण को प्रियतम का भाव दिया। इसका मूल कारण यह है कि वे श्री कृष्ण से परे अन्य किसी स्वरूप को मानती ही नहीं थीं।)

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे बालबाई जी! आप निश्चित रूप से इतना जान लीजिये कि आपको परब्रह्म के न्याय का जरा भी डर नहीं है। इस चंचलता भरी चुगलखोरी की बुद्धि से आप कभी भी पार नहीं

पाओगी। अरब से मेरे लौटने पर आपने ही वजीर एवं सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी से झूठी चुगली की थी और मुझे धनी के चरणों से अलग कर दिया था। मेरी तरह आपको भी धनी के चरणों से दूर होना पड़ा था।

रे ऊधव राख तूं कने तारूं डापण,

पिउजी नहीं मूकूं अमें एवी पापण।

ताताने म दिए वली वली तापण,

सखियो हवे समझ्या संदेसडे आपण॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥६॥

गोपियाँ कहती हैं— हे उद्धव! इस तरह की ज्ञान की चतुराई तुम अपने पास रखो। हम इतनी पापिनी नहीं हैं कि अपने कन्हैया को भूल जायें। हम तो विरह की अग्नि में स्वयं ही जली जा रही हैं, किन्तु तुम हमें निराकार का

ज्ञान सुनाकर और दुःखी कर रहे हो। हम सब सखियाँ इस रहस्य को समझ गयीं हैं कि तुम यहाँ सन्देश लेकर क्यों आये हो?

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे बालबाई जी! पहले तो सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी पर दबाव देकर आपने मेरा प्रणाम तक स्वीकार नहीं होने दिया और अब खुद ही मुझे उनके पास चलने के लिये कह रही हो। अपनी इस तरह की चतुराई भरी बुद्धि को आप अपने पास रखिये। मैं इतनी पापिनी नहीं हूँ जो सद्गुरु महाराज से अपना सम्बन्ध तोड़ सकूँ। विगत चार वर्षों से सद्गुरु महाराज से विरह का कष्ट तो था ही, आपने यह सूचना देकर मेरे हृदय की पीड़ा को और बढ़ा दिया है कि मेरे सद्गुरु महाराज मेरे न आने से दुःखी हो रहे हैं। धाम धनी ने मुझे बुलाने के लिये सन्देश क्यों भेजा, अब मैं इसका

रहस्य भी समझ चुकी हूँ।

ऊधव तारे डापणिए घणूं रे संतापी,

रे मूरख तूने ए मत कोणो आपी।

अमें तूने जाण्यो नहीं एवो पापी,

तें तो नाख्या अमारा अंगडा कापी॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥७॥

गोपियाँ कहती हैं— हे उद्धव! तुम्हारी चतुराई से हम बहुत दुःखी हैं। रे मूर्ख! इस प्रकार की बुद्धि तुझे किसने दी? हम यह नहीं समझ पाईं कि तुम इतने पापी हो। तुमने तो अपने निराकारवाद का ज्ञान बघारकर हमारे शरीर के एक-एक अंग के टुकड़े कर दिए।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं- हे बालबाई जी! मैं आपकी चतुराई से बहुत अधिक दुःखी हूँ। रे मूर्खा! "क्षणे तुष्टा क्षण रुष्टा" वाली यह बुद्धि आपको किसने दी? अरब से लौटने से पहले मैं भी नहीं जानती थी कि आप इतनी अधिक चुगलखोरनी (पापिनी) हो। आपने तो मुझे सद्गुरु के चरण कमल से दूर करके मेरे शरीर के एक-एक अंग को ही काट डाला।

सखियो हवे दुखडा के ऊपर कीजे,

आपणो नंद कुंअर होय तो रीझे।

आपणी वार्ते जदूनो राय न भीजे,

सखियो हवे ऊधव ने संदेसा स्या दीजे॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥८॥

गोपियाँ कहती हैं- सखियों! हम अपना दुःख किससे कहें? मथुरा में यदि हमारे नन्द कुँवर बैठे होते तो हमारे ऊपर रीझते। हमारी विरह की बातों से यदुवंशियों के राजा श्री कृष्ण पिघलने वाले नहीं हैं। इसलिये उद्धव के हाथ अपना सन्देशा भिजवाने से कोई लाभ नहीं है।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे सुन्दरसाथ जी! हम अपना दुःख किससे कहें? यदि इस समय हमारे सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी होते, तो फूलबाई को इस प्रकार बहिष्कृत नहीं होना पड़ता। हमारे धनी तो हमारी बातों पर अवश्य ही रीझते थे। ये बिहारी जी (यदुराय) हमारी आग्रह भरी बातों पर जरा भी रहम करने वाले नहीं हैं। ऐसी स्थिति में बालबाई के द्वारा सिफारिश का सन्देश भिजवाना भी उचित नहीं है। मैं तो पिया-पिया कहकर अपने धनी को ही पुकार रही हूँ।

सखियो हवे आपोपूं सहु कोई झालो,

कान्हजी होय तो दोडी जईए चालो।

ए जदुराय नहीं रे गोपियोनों वहालो,

सखियो हवे ऊधव ने गुझडी कां आलो॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥९॥

गोपियाँ आपस में कहती हैं— सखियों! अब सब कोई अपने को सम्भालो। यदि मथुरा में अपने कन्हैया होते तो हम दौड़कर वहाँ चले जाते। यदुवंशियों के राजा श्री कृष्ण हमारे प्रेमी नहीं हैं। इसलिये उद्धव से अपने विरह-प्रेम की कोई भी बात नहीं करनी है।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं— हे सुन्दरसाथ जी! आप सभी अपने को सम्भालिए। यदि इन बिहारी जी के अन्दर हमारे धाम धनी विराजमान होते, तो हम सभी दौड़कर उनके चरणों में चलते। इन बिहारी जी के

अन्दर हमारे प्रियतम नहीं हैं, इसलिए ऐसी स्थिति में बाल बाई जी से इस गुह्य रहस्य को क्यों प्रकट करते हो कि हमारे धाम धनी इस समय कहाँ हैं?

रे ऊधवडा अमारा धणी अम पासे,

तारी मत लई जा रे तूं साथे।

अधखिण अलगो न थाए अमथी नाथ,

विरहा मांहे विलसूं वालैया संघात॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१०॥

गोपियाँ कहती हैं— हे उद्धव! हमारा प्रियतम हमारे पास ही है। तुम अपने निराकारवाद का ज्ञान अपने साथ ले जाओ। हमारा प्रियतम तो आधे क्षण के लिये भी हमसे अलग नहीं हो सकता। हम भले ही उनके विरह में रहती

हैं, किन्तु आन्तरिक रूप से उनके साथ प्रेममयी लीलाओं में मग्न रहती हैं।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं— हे बालबाई जी! हमारे धनी तो हमारी आत्मा के हृदय में पल-पल विराजमान रहते हैं। आप सबको जो बिहारी जी एवं गादी की तरफ झुका रही हैं, अपनी उस मान्यता को आप अपने पास ही रखिये। मेरे प्राणनाथ तो मुझसे आधे क्षण के लिए भी जुदा नहीं होते। भले ही मैं अपने प्रियतम के विरह में रहती हूँ, फिर भी आन्तरिक रूप से उनके प्रेम और आनन्द में मग्न रहती हूँ।

रे ऊधवडा विरह मा नंदनो कुंअर,

एणी अमकने खरी रे खबर।

विरह मा जोयो लाधे ततपर,

ते ऊधव अमे भूलूं केम अवसर॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥११॥

गोपियाँ कहती हैं- हे उद्धव! यह बात हमें अच्छी तरह से मालूम है कि हमारी इस विरह की अवस्था में भी नन्द कुमार हमारे मध्य में ही हैं। यदि विचार करके देखा जाये तो विरह के द्वारा उनको अति शीघ्र पाया जा सकता है। इसलिये हे उद्धव! इस सुनहले अवसर को हम क्यों गवायें, अर्थात् तुम हमें अपने कन्हैया के विरह में ही रहने दो।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं- हे बालबाई जी! हमें अच्छी तरह से मालूम है कि सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र

जी अन्तर्धान होने के पश्चात् भी हमारे इस विरह की अवस्था में हमारे बीच में ही है। श्री बिहारी जी या उनकी गादी (मथुरावासी श्री कृष्ण) में नहीं हैं। हे बालबाई जी! देखिये! वे विरह की अवस्था में अति शीघ्रता से मिलते हैं। ऐसे शुभ अवसर को हम क्यों गँवायें?

रे ऊधवडा अमारो धणी अममा गलियो,

तमे आवतांते सांसो सर्वे टलियो।

ऊधव तारी वार्ते चित अमारो न चलियो,

विरह वधारी ऊधव पाछो वलियो॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारुं॥१२॥

गोपियाँ कहती हैं! हे उद्धव! हमारे धनी हमारे धाम हृदय में विराजमान हैं। तुम्हारे आने से हमारे सारे संशय दूर हो गये हैं। तुम्हारी ज्ञान की बातों से हमारा चित्त जरा भी

विचलित नहीं हुआ है, अर्थात् हम पूर्ववत् एकमात्र कृष्ण को ही अपना आराध्य मानेंगी, तुम्हारे निराकार परमात्मा को नहीं। इस प्रकार गोपियों का विरह बढ़ता ही रहा और उनको समझाने में असफल उद्धव वापस लौट गये।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं— हे बालबाई जी! मेरे धनी तो मेरे अन्दर विराजमान हैं। आपने श्री बिहारी जी एवं गादी की महिमा को सर्वोपरि बताकर मेरे अन्दर का सारा भ्रम दूर कर दिया है। अब मैं यह निश्चित रूप से जान गयी हूँ कि धाम धनी न तो श्री बिहारी जी के अन्दर हैं और न ही गादी के अन्दर हैं। हे बालबाई जी! आपके द्वारा गादीवाद का गुणगान किये जाने पर भी मेरा विश्वास धनी के मूल स्वरूप से हटा नहीं है। आपकी भ्रमित करने वाली बातों से अपने मूल धनी के प्रति मेरा विरह और बढ़ गया है।

सखियो हवे घरडा सहुए संभारो,

रखे कोई वालाजीने दोष देवरावो।

ए विरह मांहेना मांहेज मारो,

सखियो एतो नहीं घर बार उघारो॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१३॥

गोपियाँ कहती हैं— हे सखियों! अब तुम सभी अपने— अपने घर को सम्भालो। किसी भी तरह से अपने प्रियतम की गरिमा को दोष न लगने दो। अपने विरह के दुःख को अन्दर ही अन्दर छिपाये रखो। अपने मन के दुःखों को कभी भी किसी के सामने प्रकट न करो।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे सुन्दरसाथ जी! अब आप सब अपना ध्यान अपने मूल घर परमधाम की तरफ कीजिए। अपने प्रियतम अक्षरातीत के ऊपर इस बात का दोष न लगने दीजिए कि वे हमें छोड़कर

चले गये। प्रियतम के विरह में होने वाले दुःख को अपने मन में ही सहन करें। उसे सबके सामने प्रकट न होने दें।

सखियो तमे मूको रे बीजी सहु वात,

आपण ऊपर निसंक पडी रे निघात।

दुखे केम मूकिए गोपीनो नाथ,

हवे आपोपूं नाखो जेम रहे अख्यात॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१४॥

गोपियाँ कहती हैं— हे सखियों! अब तुम इन सारी बातों को छोड़ दो। निश्चित रूप से हमारे ऊपर प्रियतम के विरह का कष्ट आ गया है, किन्तु दुःख की इस घड़ी में भी हम अपने कन्हैया को कैसे छोड़ सकते हैं? हमें स्वयं को अपने कान्हा के प्रेम में समर्पित कर देना चाहिये,

जिससे हमारी गरिमा बनी रहे।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे सुन्दरसाथ जी! सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के रूप में लीला करने वाले अक्षरातीत भले ही हमसे अन्तर्धान हो गये हैं, किन्तु वे हमसे दूर नहीं हैं। विरह के इस कष्ट को सहन करते हुये आप सकारात्मक भावों के साथ यही मानिये कि वे हमारी आत्मा के धाम हृदय में विराजमान हैं, और हम उनके चरणों से पल भर के लिये भी स्वयं को अलग न करें, तथा उनके प्रेम में स्वयं को पूर्णतया समर्पित कर दें। ऐसा करने पर ही हमारा ब्रह्मसृष्टि कहलाना सार्थक होगा।

सखियो हवे विना घाय नाखो आप मारी,

वालाजीना विरहनी वात संभारी।

वसेके वली राखो घर लोकाचारी,

हवे एवी कठण कसोटी खमो नारी॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१५॥

गोपियाँ कहती हैं— हे सखियों! अब प्रियतम कान्हा के विरह की बातों को याद रखते हुए बिना चोट किये ही स्वयं को मार दो अर्थात् अपने अहंकार को नष्ट कर दो। पुनः अपने लौकिक उत्तरदायित्व को भी निभाओ। इस प्रकार अब अपने को इस कठिन कसौटी पर खरा सिद्ध कर दो (दुःख की इस घड़ी को धैर्यपूर्वक सहन करो)।

भावार्थ— श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! अक्षरातीत धाम धनी ने सद्गुरु महाराज के रूप में हमारे सामने प्रत्यक्ष रूप से लीला की, किन्तु हम उन्हें यथार्थ

रूप से पहचान नहीं सके। अब उनकी प्रेम भरी लीलाओं को याद रखते हुये तारतम ज्ञान के प्रकाश में अपनी मैं खुदी के पर्दे को हटा देना है, जिससे हमारी आत्मा के धाम हृदय में उनकी सुन्दर छवि बस जाये। इसके अतिरिक्त हमें अपने लौकिक उत्तरदायित्वों को भी निभाना पड़ेगा और यह सिद्ध करना होगा कि संघर्ष की किसी भी कसौटी पर हम स्वयं को खरा सिद्ध कर सकते हैं।

सखियो हवे विरहनी भारी रे उपाडो,

ए अंग मायाना माया माहें पछाडो।

ए विरह बीजा कहेने मा देखाडो,

सखियो विना रखे कोणे बार उघाडो॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१६॥

गोपियाँ कहती हैं- हे सखियों! अब प्रियतम कान्हा के मथुरा चले जाने के विरह को धैर्यपूर्वक सहन करो। हमें इस मायावी जगत में जो पञ्चभौतिक तन मिला है, उसे सारहीन करके प्रियतम कान्हा के प्रेम में डूबे रहना है। अपने विरह की बातों को अन्य किसी से भी नहीं कहना है। गोपियों के अतिरिक्त अन्य किसी से भी अपने हृदय के प्रेम की बात नहीं करनी है।

भावार्थ- श्री इन्द्रावती जी कहती हैं- हे साथ जी! बाह्य रूप से अन्तर्धान होने वाले प्रियतम अक्षरातीत के विरह को धैर्यपूर्वक सहन कीजिये। इस नश्वर जगत में जो हमें पञ्चभौतिक तन मिला है, उसे अपने प्रेम की अग्नि से सारहीन कर देना है अर्थात् शरीर का मोह छोड़कर अपनी अन्तर्दृष्टि को प्राणेश्वर अक्षरातीत की शोभा में लगाये रखना है। धाम धनी के विरह को अन्य किसी से

भी नहीं कहना है। सुन्दरसाथ के अतिरिक्त अन्य किसी से भी अपने आत्मिक सुख के भेदों को न बतायें।

सखियो मारो जीव जीवन मांहे भलियो,

अमें माया ग्रही तोहे ते पल न टलियो।

ए वालो अम विना कोणे न कलियो,

इंद्रावती कहे अमारो अमने मलियो॥

हो स्याम पिउ पिउ करी रे पुकारूं॥१७॥

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! अब इस नश्वर जगत में मेरे जीव के जीवन प्राणेश्वर अक्षरातीत मिल गये हैं। भले ही हम इस नश्वर जगत में आये, किन्तु एक पल के लिये भी वे हम से अलग नहीं हैं। प्रियतम को हमारे बिना अन्य कोई भी पहचान नहीं सका। धाम धनी हमारे हैं, इसलिये वे हमें प्राप्त हो गये। हे धनी! मैं पल—

पल आपको पुकार रही हूँ।

भावार्थ- इस चौपाई के प्रथम चरण को पढ़कर ही बिहारी जी नाराज हुये थे कि मिहिरराज ने कैसे यह दावा कर दिया कि उन्होंने धनी को पा लिया है?

"बिहारीजी चमके, सुन खटरुतु के वचन।"

वस्तुतः इस नश्वर जगत में श्री राज जी का निवास तो एकमात्र आत्मा के धाम हृदय में ही होता है।

प्रकरण ॥ १५ ॥ चौपाई ॥ २३० ॥

॥ खटरुती सम्पूर्ण ॥